'क्षण बोले कण मुसकाये' प्रभाकर-जीकी कृति है, मात्र इतना कह देना इस बातका प्रमाण है कि यह पुस्तक पठनीय है, मननीय है, और यह प्रभाकरजीकी जादू-भरी लेखनीकी नयी देन है।

किन्तु, 'क्षण बोले कण मुसकाये' इन सुपरिचित विशेषताओंके अतिरिक्त भी विशिष्ट है। और, यह बात इस पुस्तकको अद्भुत और अद्वितीयकी श्रेणीमें ला बैठाती है। पुस्तक सामग्री और विषय-वस्तुकी दृष्टिसे ऐतिहासिक महत्त्वकी है. यह उन उदात्त मार-गाथा और अनुभवोंकी संश्लिष्ट छवि प्रस्तुत करती है जिसकी एक-एक रेखामें जीवन्त व्यक्ति और स्पन्दित राष्ट्रकी अनेकों प्रतिच्छवियाँ झिलमिला रही हैं। और शिल्प? साहित्यके विकास-क्रममें नितान्त नया और अलबेला।

इसका प्रमाण? स्वयं यह पुस्तक, श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' की!

मूल्य चार रुपये

क्षण बोले कण मुसकाये

[तेईस अन्तर्दर्शी और मर्मस्पर्शी रिपोर्ताज़

*

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

क्षण बोले
कण मुसकाये

[तेईस अन्तर्दर्शी और मर्मस्पर्शी रिपोर्ताज]

*

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक–१८३
सम्पादक एवं नियामक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

KSHANA BOLEY
KAN MUSKAYE
(*Reportage*)
KANHAIYA LAL MISHRA
'PRABHAKAR'
Bharatiya Jnanpith
Publication
Second Edition 1966
Price Rs 4.00

प्रकाशन
प्रधान कार्यालय
९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५
विक्रय केन्द्र
३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६
द्वितीय संस्करण १९६६
मूल्य ४.००

सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी–५

ज्ञान और आनन्दके इस संगममें !

१९२५ में जब मैं अपनी तुकबन्दियोंके तंग घेरेसे निकलकर गद्यके क्षेत्रमें आया, तो मैं श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' की संस्कृत-सरस शैलीसे पूरी तरह प्रभावित था। उन्हीं दिनों वसन्तमें खेतोंपर खूब घूमनेके बाद मैंने एक लेख लिखा था। पूरी जिम्मेदारीके साथ आज मैं कह सकता हूँ कि गद्य-काव्य, स्केच और रिपोर्ताजके बीज थे उसमें।

कुछ लोग कहते हैं कि पत्रकार-कलामें रिपोर्ताजका आविष्कार रूसमें हुआ और वहींसे यह भारतमें आया। निश्चय ही यह उस देशमें अपने स्वतन्त्र रूपमें पनपा होगा; हिन्दको उसका श्रेय लेनेकी आवश्यकता नहीं, पर हिन्दीमें यह स्वतन्त्र रूपमें पनपा है और उसपर किसीका किसी तरह-का भी ऋण नहीं। हाँ, बादमें इस विधाके लिए रिपोर्ताज नाम रूसीके माध्यमसे हिन्दीने लिया, यह एक प्रत्यक्ष सचाई है।

स्पष्ट है कि मेरे मनमें न रिपोर्ताज शब्द था, न उसके फलितार्थ। फिर उसे लिखनेकी भावना मुझमें कैसे उगी और उसका स्वरूप मेरे मनमें कैसे बना? इस प्रश्नका उत्तर एक लम्बी कहानी है। १९२५ में कानपुरमें कांग्रेसका अधिवेशन श्रीमती सरोजिनी नायडूके सभापतित्वमें हुआ। उसमें जानेकी तीव्र इच्छा थी, पर धनाभावके कारण मैं जा न सका, कहूँ तड़प कर रह गया। फल यह हुआ कि दैनिक और साप्ताहिक पत्रोंमें कानपुर-अधिवेशनके सम्बन्धमें जो कुछ छपा, वह मैंने अक्षर-अक्षर पढ़ा, पर सब

ज्ञान और आनन्दके इस संगममें !

१९२५ में जब मैं अपनी तुकबन्दियोंके तंग घेरेसे निकलकर गद्यके क्षेत्रमें आया, तो मैं श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' की संस्कृत-सरस शैलीसे पूरी तरह प्रभावित था। उन्हीं दिनों वसन्तमें खेतोंपर खूब घूमनेके बाद मैंने एक लेख लिखा था। पूरी जिम्मेदारीके साथ आज मैं कह सकता हूँ कि गद्य-काव्य, स्केच और रिपोर्ताजके बीज थे उसमें।

कुछ लोग कहते हैं कि पत्रकार-कलामें रिपोर्ताजका आविष्कार रूसमें हुआ और वहींसे यह भारतमें आया। निश्चय ही यह उस देशमें अपने स्वतन्त्र रूपमें पनपा होगा; हिन्दीको उसका श्रेय लेनेकी आवश्यकता नहीं, पर हिन्दीमें यह स्वतन्त्र रूपमें पनपा है और उसपर किसीका किसी तरह-का भी ऋण नहीं। हाँ, बादमें इस विधाके लिए रिपोर्ताज नाम रूसके माध्यमसे हिन्दीने लिया, यह एक प्रत्यक्ष सचाई है।

स्पष्ट है कि मेरे मनमें न रिपोर्ताज शब्द था, न उसका टेक्निक। फिर उसे लिखनेकी भावना मुझमें कैसे उगी और उसका स्वरूप मेरे मनमें कैसे बना? इस प्रश्नका उत्तर एक लम्बी कहानी है। १९२५ में कानपुरमें कांग्रेसका अधिवेशन श्रीमती सरोजिनी नायडूके सभापतित्वमें हुआ। उसमें जानेकी तीव्र इच्छा थी, पर धनाभावके कारण मैं जा न सका, वहीं तड़प कर रह गया। फल यह हुआ कि दैनिक और साप्ताहिक पत्रोंमें कानपुर-अधिवेशनके सम्बन्धमें जो कुछ छपा, वह मैंने अक्षर-अक्षर पढ़ा, पर सब

कुछ पढ़नेके बाद भी मैं प्यासा रह गया। यह प्यास आनन्दकी थी। अधिवेशनमें जो कुछ हुआ, इस सारी 'रिपोर्टिङ्' में उसका ज्ञान और विवरण तो था, पर आनन्द न था।

मुझे इससे बहुत बेचैनी हुई और मैंने बार-बार सोचा कि क्या यह रिपोर्टिङ् इस तरह नहीं हो सकती कि जो लोग अधिवेशनमें नहीं थे उन्हें भी वहाँ जानेका कुछ-न-कुछ आनन्द आये। वे सौ प्रतिशत पाठक न रहें हों, पर दस-बीस प्रतिशत दर्शक भी हो सकें।

१९२६ में गुरुकुल कांगड़ीकी रजत-जयन्ती मनायी गयी और उसमें महात्मा गान्धी, मालवीयजी और टी० एल० वास्वानीके आनेकी घोषणा हुई। मैं एक कृपालु बन्धुसे बारह रुपये उधार लेकर उस उत्सवमें गया और बहुत ही तल्लीनतासे मैंने उस उत्सवको देखा। मेरी आँखोंके लि[ए] इतना बड़ा यह पहला ही उत्सव था। उत्साह अथाह, तो व्यवस्था अनुपम-पुलिसका कहीं नाम-निशान नहीं; हर क्षण नया दृश्य, नया अनुभव। मैं आनन्द-विभोर हो उठा।

घर लौटकर मैंने इस महान् उत्सवकी रिपोर्टिङ् भी कई पत्रोंमें पढ़ी और फिर पहलेकी तरह निराश हुआ—सभीमें जड़ विवरण, जिसमें रसकी एक बूँद नहीं। यह उत्सव मैं स्वयं देख चुका था, इसलिए मनमें आया कि अमुक-अमुक दृश्य इस विवरणमें जोड़ दिये जाते, तो पाठकको कितना आनन्द आता! इस प्रकार पहले कल्पनामें और फिर कागजपर मैंने इस महोत्सवका रिपोर्ताज लिखा। वास्तविक रूपमें यही मेरा पहला रिपोर्ताज था। सन्-महीना-तारीखके आँकड़ोंमें सोचनेवाले इतिहास-लेखकोंका काम है कि वे देखें—यही हिन्दीका पहला रिपोर्ताज तो नहीं था!

इसमें अनेक ऐसे दृश्य थे, ऐसे स्नैप थे कि पाठक घर बैठे भी महोत्सवमें घूमनेका आनन्द उठा सकें। गान्धीजी, मालवीयजी, वास्वानीजी, डाक्टर मुंजे, आचार्य रामदेव और साधारण दर्शकोंकी ऐसी छोटी-छोटी झाँकियाँ और राह चलते ऐसी नन्हीं-मुन्नी घटनाओंके ऐसे जड़ाव थे कि

लिखकर पढ़ा, तो दुबारा उसमें देखनेका आनन्द आ गया — साथियोंमें भी जिसे सुनाया, वही खिल उठा। रिपोर्ताजके स्वरूप और शिल्पको भरपूर जाननेके बाद आज युग-युगोंके बाद पूरी ईमानदारीके साथ मेरी सम्मति है कि वह हिन्दीका सर्वांगपूर्ण रिपोर्ताज था।

उन्हीं दिनों और भी कई रिपोर्ताज कई ढंगोंसे लिखे। 'ब्राह्मण-सर्वस्व' के जनवरी १९२७ के अंकमें प्रकाशित मेरा एक रिपोर्ताज 'वेदोंकी खोज' भाई अमरबहादुर सिंह 'अमरेश' की सावधानीसे सुरक्षित रह गया है। यह किसी घटनापर नहीं, इस विशिष्ट भावनापर आश्रित है कि भारतमें वेदोंका नाम तो सब लेते हैं, पर उनके अध्ययनकी कहीं भी उचित व्यवस्था नहीं है। बड़े ही मर्मस्पर्शी ढंगसे संस्मरणात्मक रूपमें यह बात कही गयी है। एक युवक वेदोंका अध्ययन करनेकी तीव्र इच्छासे चलता है और देशकी छोटी पाठशालासे हिन्दू विश्वविद्यालय तक पहुँचता है। वेदका नाम उसे जगह-जगह मिलता है, पर वेदोंके अध्ययनकी सुविधा कहीं नहीं। वह थककर एक बागमें जा बैठता है और देखता है कि एक अँगरेज वहाँ बैठा कुछ लिख रहा है।

पूछनेपर पता चलता है कि वह वेदोंका विद्वान् है और आजकल महीधरकी भाष्यप्रणालीके खण्डनमें एक पुस्तक लिख रहा है। यहीं रिपोर्ताजका अन्त इन शब्दोंमें होता है : "मैंने सोचा, हाय, भारतीयोंको तो इतना समय नहीं है कि वे अपने सर्वस्व वेदोंपर ध्यान दें और यह विदेशी वेदोंपर विवेचना कर रहा है और श्रुति-सर्वस्व महीधरके भाष्यका खण्डन भारतमें ही बैठा हुआ कर रहा है। शोक! इस समय मुझे समस्त पृथ्वी और आकाश शून्य प्रतीत हुआ और मैं मूर्च्छित होकर हरी घासपर लेट गया।"

इस रिपोर्ताजको लिखकर ऐसा मालूम होता है कि मेरे विकसित हो रहे मनमें यह प्रश्न उठा कि यह है क्या? साहित्यिक भाषामें यों कि अपनी इस कृतिके सम्बन्धमें मेरी जिज्ञासा विधात्मक थी कि यह लेख नहीं

क उपजा न था, तो मेरी उस समयकी बुद्धिने इसे 'निब-
न्ध' कहा और यह कथन मुझे इतना 'मौलिक' लगा कि
ताज' इस शीर्षकके नीचे उपशीर्षककी तरह लिखना
।

अपनी जन्मभूमिके पीनो मेलेपर मैंने एक रिपोर्ताज लिखा
त-सर्वस्व'में छपा भी, पर इतना कट-छँटकर कि संक्षिप्त हो
टा समाचार ही रह गया। तब उठी गान्धीकी आँधी;
र आकाश हिलाते नारे—१९३० का आन्दोलन कि
व तूफान, रात-दिन एक ही धुन—चलो जेल !

४ सितम्बर १९३० और पहुँच गये जेल—एकदम नयी
नियाकी एक खास चीज 'सी०ओ०'। मैं किसी बुरे कसूर-
दी, पर कैदके अन्तमें सी० ओ०—कनविक्ट ओवरसियर—
जेल अधिकारी, हमारी बैरकके इंचार्ज। पीला पाजामा,
ल टोपी और लाल टोपीपर कलगीकी तरह सामने ही लगा
O.'—जेलशासनके प्रतिनिधि, पर कैदीके ईश्वर !

न था सी० ओ० चरित्र। उसपर रिपोर्ताज लिखा। बड़ा
और चुलबुला। उसे सी० ओ० के ही सहयोगसे घर भेज
में वह किसी पत्रमें छपा भी, पर इसके बाद जेलके जीवन-
ह रिपोर्ताज लिखे, वे एक दिन जब मैं भूख-हड़तालपर
अहत जेलर श्री गुरुप्रसादके हाथ पड़ गये और फिर कभी
र नहीं निकले। जीवनमें मेरे चार पुत्रोंकी मृत्यु हुई है। वे
-होनहार थे, पर इनसे ज्यादा मुझे अपने रिपोर्ताज बार-
के साथ याद आये हैं।

२ का तूफान—मेरी दूसरी जेलयात्रा। वायसराय लार्ड
मनचक्र जोरोंपर। १९३० में जो लोग जेलोंके ए क्लासमें

रखे गये थे, उनमें-से अधिकांश सी क्लासमें, पर मैं एक अपवाद कि १९३० में सी क्लासमें था और १९३२ में रहा बी क्लासमें। इसकी भी एक मज़ेदार कहानी। १९३० में मुझे बी क्लास मिला, तो मैंने कहा, "मेरे भाषण सुनकर जो देहाती भाई स्वयंसेवक बन जेल आये हैं, वे सी क्लास-में चने चाबें और मैं बी क्लासमें दूधका दलिया खाऊँ, यह गान्धी-भावना-के विरुद्ध है, मैं इसे स्वीकार नहीं कर सकता।" और अपना क्लास छोड़ दिया।

१९३२ में जेल गया, तो बीमार था और पकड़ा गया उस दफ़ामें, जिसमें पण्डित जवाहरलाल नेहरू और दूसरे दस-पाँच ही उत्तर प्रदेशमें पकड़े गये थे : इमरजेन्सी पावर ऑर्डिनेन्स। सज़ा हुई दो सालकी। मैजिस्ट्रेट श्री सी० बी० सिंहने बी क्लास लिखा, पर अंगरेज़ जिलाधीश श्री बुकसे कई बार मेरी झपट हो चुकी थी, इसलिए उसने उसी दिन उसे सी कर दिया। मेरे कुटुम्बके 'बड़े आदमी' श्री पण्डित आशारामजीने बुकसे कहा, "कन्हैयालाल मेरा भतीजा है, कहना नहीं मानता, कांग्रेसमें काम करता है। आप उसे जेल भेजते हैं, यह ठीक ही है, पर आपने उसे सी क्लासमें क्यों रख दिया?"

झल्लाकर बुक साहब बोले, "हमने उस बदमाशको इसलिए सी क्लासमें रखा कि सरकारने कोई डी क्लास नहीं बनाया!" यह समाचार मेरी पत्नी प्रभाने मुझे दिया, तो सुनकर बड़ा गुस्सा आया। अंगरेज़से हर मोर्चेपर युद्ध, यही उन दिनोंकी मनोवृत्ति थी। बुककी नाक काटना तै हुआ, उसकी योजना बनी। दूसरे ही दिन प्रभाजीने होम मेम्बरको एक रजिस्टर्ड पत्रमें लिखा, "मेरे पति लेखक हैं, पत्रकार हैं, रायल एशियाटिक सोसायटी लन्दनके मेम्बर हैं, एक ऊँचे कुटुम्बके सदस्य हैं, उनका रहन-सहन ऊँचा है। फिर भी उन्हें बीमारीकी हालतमें बदलेकी भावनासे सी क्लासमें रखा गया है। सचाई यह कि यह सब सच होते भी बेचारा

कन्हैयालाल उन दिनों बीस रुपये महीनेपर संस्कृत विद्यालयमें अध्यापक था।

तहसीलमें पूछ-ताछके बाद बाईसवें दिन मुझे बी क्लासमें रखनेका आदेश आ गया और मैं सहारनपुर जेलकी बैरक नम्बर ७ से बँगला नम्बर ११ में बदल दिया गया। समयकी बात, दूसरे ही दिन मी कुक जेलका निरीक्षण करने आये और मुझे बी क्लासमें देखा, तो जेलरसे पूछा, "इस पण्डितको हमने सी क्लासमें रखा था।" उनके जवाब देनेसे पहले ही मैंने ज़ोरसे कहा, "लेकिन आपके हिन्दुस्तानी आक़ाने बी क्लासमें कर दिया है।" उन दिनों नवाब छतारी साहब होम मेम्बर थे। बड़ा झेंपे कुक साहब और तुरन्त दूसरी बैरकमें चले गये।

बी क्लासका मेरे लिए सबसे बड़ा आनन्द ११ नम्बरके बँगलेसे मिला-हरा-भरा खेत था और बादमें फ़ैज़ाबाद जेलमें उत्तर प्रदेशके श्रेष्ठ राजनैतिक साधकोंसे सम्पर्क पाना। तो इसी हरे-भरे खेतपर बैठकर मैंने बहुत-से लेख लिखे। इन्हींमें था—एक तसवीरके दो पहलू। कहना चाहिए यहाँतक आते-आते मेरी रिपोर्ताज़ लिखनेकी कला अपनी पूर्णताके निकट आ चुकी थी।

जून १९३४, एक घटनाने जीवनको झकझोर दिया और यह झकझोर एक रिपोर्ताज़ बन बैठी। निवास एक शानदार कोठीमें, पर स्थिति यह कि घरमें खानेके नाम थोड़ी-सी खिचड़ी ही शामके भोजनके लिए। खिचड़ी खाना कोई बुरी बात नहीं, पर घरमें एक मेहमान, जो यह कह चुके कि जाते समय किरायेके लिए मुझे दो रुपयेकी ज़रूरत होगी। अब समस्या यह कि यदि दो रुपये न दे सकनेके कारण मेहमानको ठहरनेके लिए कहें, तो उसे खिलायें क्या, और जाने दें तो दो रुपये कहाँसे दें? दिन-भर मैं किसीसे पाँच रुपये उधार पानेके लिए दौड़-धूप करता रहा और असफलताके थपेड़े खाता रहा। इन थपेड़ोंके बीच चिन्तन बराबर चलता रहा। इस घटनाका अन्त कमालका कि मैंने ज्यों ही थककर प्रयत्न

बन्द किये, एक चमत्कारके रूपमें मुझे पाँच रुपये मिल गये। इस रिपोर्ताज़-में ये प्रयत्न, वह चिन्तन और वह चमत्कार साकार हो गया है।

इसे पढ़कर सफल कवि और सबल आलोचक डॉक्टर रामकुमार वर्माने कहा था, "विश्व-साहित्यमें इस ढंगकी मैंने एक ही रचना और पढ़ी है और वह है विक्टर ह्यूगोकी फाँसी।" दूसरे कुछ बन्धुओंने भी इसकी असाधारण प्रशंसा की और इससे निश्चय ही मेरा आत्मविश्वास पुष्ट हुआ–मुझे नये प्रयोग करनेकी प्रेरणा मिली।

यह है फरवरी १९३५! केन्द्रीय असेम्बलीका चुनाव हो चुका था और उस दिन उसके प्रेज़ीडेण्टका चुनाव होना था। श्री तसद्दुक अहमद-खाँ शेरवानी कांग्रेसी उम्मीदवार थे। घनघोर संघर्ष था। दो वोटसे कांग्रेस हार गयी। मैं भी उन दिनों दिल्लीमें ही था। खूब घूमा, खूब देखा खूब सोचा और बादमें यह सब एक रिपोर्ताज़में उतर आया–दिल्ली यात्राके संस्मरण। स्पष्ट है कि रिपोर्ताज़ शब्द तब नहीं था और यह भी कि इस विधाकी भिन्नता मनमें थी, पर उसके लिए कोई नाम न था! फिर भी इसे लिखकर मैं अभिभूत हो उठा, क्योंकि यह भावुकताके सुकु-मार स्पर्शोंसे यों अनुरंजित था कि अतीत वर्तमान और भविष्य अपनी रंगीनियोंके साथ एक ही मंचपर थिरक उठे थे। मैं इसे इस दृष्टिसे भी बहुत महत्त्व देता हूँ कि मेरे मनमें रिपोर्ताज़का एक सम्पूर्ण चित्र इसी रिपोर्ताज़से बना।

और यह है अप्रैल १९३६; पण्डित जवाहरलाल नेहरूके सभापतित्वमें लखनऊमें कांग्रेसका अधिवेशन–भारतके नये युगका अरुणोदय। इसे मैंने ने आँखों देखा, भरी आँखों देखा, आँखों भर-भर देखा और तब लिखा रिपोर्ताज़। यह इतना विस्तृत कि लगभग चौथाई अंश कट जानेपर ताप' के तीन अंकोंमें पूर्ण हुआ–गूढ़ता और सलोने स्पर्शोंसे में पण्डित जवाहरलाल नेहरूने उसके सम्बन्धमें 'प्रताप'–बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' से कहा था, "तुम्हारे प्रतिनिधि-

से बढ़कर सूक्ष्मदर्शी पत्रकार किसी भाषाके पास नहीं था !"

इस प्रकार १९३५–३६ में मेरे रिपोर्ताजका स्वरूप निखर आया था और यह कहना भी सम्भवतः इतिहासके साथ औचित्यका निर्वाह ही माना जायेगा कि यह हिन्दी रिपोर्ताजके स्वरूपका ही निखर आना था। मेरे लिए उसका व्याकरण है यह कि रिपोर्ताज घटनाका हो, दृश्यका हो या उत्सव-मेलेका हो, उसे ज्ञान और आनन्दका संगम होना चाहिए। मैं जो कुछ देखता हूँ उसे बहुत विस्तारमें देखता हूँ, बहुत गहराईमें देखता हूँ; तब चिन्तनमें उस देखे हुए दृश्यके अर्थ फैलाता हूँ फलितार्थ फैलाता हूँ और लिखते-लिखते उसे इतिहासकी कड़ी और जीवनकी लड़ीसे इस तरह जोड़ देता हूँ कि एक सम्पूर्ण चित्र बन जाता है। लिखते समय मैं उस दृश्यके साथ इतना तल्लीन रहता हूँ कि मुझे यह भान ही नहीं होता कि मैं इस समय उस वर्णनीय यात्रा, उत्सव, घटना या दृश्यके बीच नहीं हूँ। कहूँ, देखते समयकी सूक्ष्मता और लिखते समयकी तल्लीनता ही रिपोर्ताजकी सफलता है।

लेखमें घटनाका विवरण होता है, स्केचमें रेखाचित्र और संस्मरणमें जीवनका स्पन्दन, पर विवरण, चित्र और स्पन्दनका समन्वय ही रिपोर्ताज है। दूसरे शब्दोंमें रिपोर्टिङ्गमें समाचार होता है, सम्पादकीयमें विचार, पर रिपोर्ताजमें समाचार और विचारका संगम है। शायद यों कहकर मैं और समीप आ जाऊँ कि उसमें दृश्य और चिन्तनका संगम है। यही कारण है कि देखते-देखते रिपोर्ताज हमारे साहित्यमें आदरके स्थानपर आ बैठा है और हमारी पत्रकारिताकी शक्ति बन गया है।

रिपोर्ताज लेखनमें १९३५–३६ के बाद भी मैंने बराबर प्रयोग किये हैं, रिपोर्ताज लिखे हैं; दूसरे अनेक लेखक बन्धुओंने भी। मेरी दृष्टिमें इस कलाकी परिपूर्णता देनेका श्रेय श्री लक्ष्मीचन्द्र जैनको प्राप्त है। रिपोर्ताज–जब पाम्पेआईकी प्रलयने वरा, गंगा-वोल्गाके

क्षण बोले कण मुसकाये

संगमरर, असीम आकाशके वियाबानमें और एक डाकू : दो खत : तीन दृष्टियाँ आदि हिन्दी साहित्यके ऐसे रत्न हैं, जो किसी भी भाषा-सरस्वतीके कण्ठहारमें प्रदीप्त हो सकते हैं, उनकी दृष्टिकी सूक्ष्मता, गहरे अध्ययनकी पृष्ठभूमि, भाव-नियोजन और सन्देश-दानकी क्षमता अनन्य है।

अपने चुने हुए रिपोर्ताज पाठकोंको भेंट करते समय मुझे आशा है कि इस विधाका महत्त्व दिन-दिन बढ़ेगा और लेखक-पाठक इसकी ओर अधिकाधिक आकर्षित होंगे; क्योंकि रिपोर्ताज पाठकमें अदृश्यको दृश्य बनानेकी जीवन्त कला है।

—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

विकास लिमिटेड, सहारनपुर
१५ अगस्त १६६३

अनुक्रम

•

उस अजीब – अद्भुत जीवने भी मुझे देखा और वह इस तरह मुस-कराया, जैसे मेरा कोई परिचित हो – जाना-पहचाना ! मैंने बहुत सोचा, पुरानी स्मृतियोंके भण्डारकी भरपूर तलाशियाँ लीं, पर किसी भी यादने साथ न दिया, मैं उसे पहचान न पाया और जब पहचाना ही नहीं, तो कहूँ क्या ?

"नहीं पहचान पाये ?" वह और तेजीसे मुसकराया और जब मैंने सिर हिलाकर इनकार किया, तो वह इतने जोरसे हँसा कि मेरी पसलियाँ भी हिल गयीं, पर तभी उसके ठण्डे और मीठे बोल मेरे कानोंमें पड़े, "अरे, तुम मुझे पहचान नहीं पाये, मैं तो वही हूँ, जिसे तुम अभी याद कर रहे थे !"

मुझे लगा कि यह भयानक जीव मुझे अपनी बातोंमें उलझा रहा है, इसलिए जरा गरमीसे मैंने कहा, "भला, मैं क्यों याद करता तुम्हें ?"

वह खिलखिलाकर हँस पड़ा और तब बोला, "भाई मेरे, डरो मत, मैं मौत नहीं हूँ, जो बूढ़ेके याद करते ही आ खड़ी हुई थी और न वो शैतान हूँ, जो याद करते ही आ खड़ा होता है।"

"फिर कौन हो तुम ?"

"मैं ? अरे भाई, मैं तो इतिहास हूँ, इतिहास । तुम मुझे अभी याद कर रहे थे या नहीं ?"

"तुम इतिहास हो ? बड़ा अजीब-सा रंग-रूप है तुम्हारा, पर ख़ैर, छोड़ो इन बातोंको और यह बताओ कि तुम इस समय इतने खुश क्यों हो ? क्या कोई खास खबर है ?"

"खुश ? मैं और खुश ?" इतिहासके बोल दुःखमें दब-से गये – "मैं खुश कहाँ हूँ ? और भाई, इतनी असफलताओंके बीच कोई खुश कैसे हो सकता है ?"

"तुम असफल हो ? क्या है तुम्हारी असफलता ?"

"मेरी असफलता ? अरे, वो बहुत गहरी है, बहुत बड़ी है, पर तुम वे सुनते ही नहीं !

आसमानको गुँजा देते :

जो बोले, सो अभय ! भारत माताकी जय !!

इनकिलाब, जिन्दाबाद !

कौमी नारा, वन्दे मातरम् !

१५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतन्त्र हुआ, इनकिलाब जिन्दाबादकी जीती-जागती मूरत सामने आयी, भारत माताकी दयनीय और दु:ख-भरी तसवीरका अन्त हुआ और अतीतकी उस शानदार तसवीरके साथ चमकदार और ताकतवर भविष्यके निर्माणकी यात्रा आरम्भ हुई।

इस यात्राको दुनियाने पहले सन्देहकी नजरसे देखा, तब आशाकी नजरसे और इसके बाद भरोसे—विश्वासकी नजरसे। सन्देहसे विश्वास तक पहुँचनेमें दुनियाको कई साल लग गये, पर भारत अपनी निर्माण-यात्रापर चला, तो बस चला ही।

एक दिन मैं उमरते हुए भारतका दर्शन करनेके लिए घरसे निकल पड़ा और घूमते-घूमते भारतके सीमाक्षेत्रोंमें जा पहुँचा।

पर्वत-ही-पर्वत, वन-ही-वन—एकसे एक सुन्दर दृश्य। देखकर मन भाव-विभोर हो उठा और मैं सोचने लगा, हमारा यह भारत कितना महान् है और इसकी ये सीमाएँ कितनी महत्त्वपूर्ण हैं कि इसकी भूमिके हर कणमें इतिहासकी एक-न-एक कड़ी समायी हुई है। ये ही सीमाएँ हैं जिन्हें लाँघकर विदेशी आक्रान्ता हमारे देशमें घुसे और ये ही सीमाएँ हैं, जिन्हें लाँघकर हमारे भिक्षु और प्रचारक राष्ट्रकी महान् संस्कृतिका सन्देश दूसरे देशोंमें ले गये। दूसरे देशोंको जहाँ अपने आक्रमणोंपर गर्व है, वहाँ भारतको अपने निष्क्रमणोंका गौरव प्राप्त है। ओह, कितना महान् है हमारे देशका इतिहास !

अजीब-सा रूप, अजीब-सा वेश और अजीब-सा रंग-ढंग—देह विशाल और चेहरा कुछ परेशान-सा ! देखकर मनमें जिज्ञासा जागी—यह कौन है इस बीहड़ वनमें ?

उस अजीब – अद्भुत जीवने भी मुझे देखा और वह इस तरह मुस-कराया, जैसे मेरा कोई परिचित हो – जाना-पहचाना ! मैंने बहुत सोचा, पुरानी स्मृतियोंके भण्डारकी भरपूर तलाशियाँ लीं, पर किसी भी यादने साथ न दिया, मैं उसे पहचान न पाया और जब पहचाना ही नहीं, तो कहूँ क्या ?

"नहीं पहचान पाये ?" वह और तेज़ीसे मुसकराया और जब मैंने सिर हिलाकर इनकार किया, तो वह इतने ज़ोरसे हँसा कि मेरी पसलियाँ भी हिल गयीं, पर तभी उसके ठण्डे और मीठे बोल मेरे कानोंमें पड़े, "अरे, तुम मुझे पहचान नहीं पाये, मैं तो वही हूँ, जिसे तुम अभी याद कर रहे थे !"

मुझे लगा कि यह भयानक जीव मुझे अपनी बातोंमें उलझा रहा है, इसलिए ज़रा गरमीसे मैंने कहा, "भला, मैं क्यों याद करता तुम्हें ?"

वह खिलखिलाकर हँस पड़ा और तब बोला, "भाई मेरे, डरो मत, मैं मौत नहीं हूँ, जो बूढ़ेके याद करते ही आ खड़ी हुई थी और न वो शैतान हूँ, जो याद करते ही आ खड़ा होता है।"

"फिर कौन हो तुम ?"

"मैं ? अरे भाई, मैं तो इतिहास हूँ, इतिहास। तुम मुझे अभी याद कर रहे थे या नहीं ?"

"तुम इतिहास हो ? बड़ा अजीब-सा रंग-रूप है तुम्हारा, पर ख़ैर, छोड़ो इन बातोंको और यह बताओ कि तुम इस समय इतने खुश क्यों हो ? क्या कोई ख़ास ख़बर है ?"

"खुश ? मैं और खुश ?" इतिहासके बोल दुःखमें दब-से गये – "मैं खुश कहाँ हूँ ? और भाई, इतनी असफलताओंके बीच कोई खुश कैसे हो सकता है ?"

"तुम असफल हो ? क्या है तुम्हारी असफलता ?"

"मेरी असफलता ? अरे, वो बहुत गहरी है, बहुत बड़ी है, पर तुम

ोड़ेमें उसे यो समझो कि मैं बार-बार कहकर भी दुनियाको अपनी बात
मझा नहीं पाता और बात भी कोई अपने मतलबकी नहीं, उस दुनियाके
फायदेकी। मेरा दुःख उस अध्यापक-जैसा है, जो नये-नये रूपोंमें अपने
द्यार्थीको उसका पाठ पढ़ाता है, पर विद्यार्थी उसे समझ नहीं पाता।
, यो समझो कि मेरा दुःख उस वैज्ञानिकका है, जिसका फार्मूला सही
प्रयोगकी विधियाँ सही हैं, पर जिसका प्रयोग हर बार असफल
हा है।"

मैंने कहा, "उस अध्यापक और वैज्ञानिकका दुःख समझना सुगम है,
र यह समझना कठिन है कि तुम्हें वह दुःख क्यों हो रहा है?"

"हाँ भाई, तुम मेरा दुःख क्यों समझोगे? तुम भी तो आखिर उसी
नियाके एक आदमी हो, जो लाखों सालोंसे समझकर भी मेरी बात नहीं
मझ रही है" – इतिहासका स्वर तीखा हो आया – "दुनियाको प्यार
हब्बतकी जरूरत थी, पर वह आपसकी खींच-तानमें फँसी हुई थी। मैंने
से एक पाठ पढ़ाया १९१४ से १९१८ तक, जिसे तुम पहला वर्ल्ड वार –
नियाकी लड़ाई – कहते हो। इसमें खूब बम बरसे और दुनियाने विध्वंस-
ा खूब नंगा नाच नाचा। हारनेवाले तो मर ही गये और जीतनेवालोंका
ल हारनेवालों-जैसा हो गया, पर प्रश्न तो यह है कि इतने बड़े विध्वंससे
नियाने क्या सीखा? क्या दुनियाने युद्धके बदले मित्रताका पाठ पढ़ा?

तुम भी जानते ही होगे कि इस प्रश्नका उत्तर क्या है? तब दूसरी
डाईके रूपमें वही पाठ मैंने फिर दुनियाको पढ़ाया और मामला ऐटम बम
क पहुँचा। दुनियामें ऐसा विध्वंस मचा कि उसकी नस-नस टूट गयी
र वह हाय-हाय कर उठी, पर क्या इससे दुनियाने शान्तिका पाठ
ढ़ा? नहीं पढ़ा, तो बताओ तुम्हीं कि यह मेरी भयंकर असफलता है
नहीं"!?

इतिहासका मुख विवर्ण हो उठा, बोल भारी हो गया और उसकी
ाँखें भर आयीं। बड़ी कठिनाईसे अपनेको सँभालकर उसने कहा, "लो,

छोड़ो दुनियाकी बात, अपने देशकी तरफ देखो। लाखों-लाख सालके अनु-भव हैं इस देशको। इन अनुभवोंमें चढ़ावके भी अनुभव हैं, उतारके भी, उत्थानके भी, पतनके भी, पर क्या उन अनुभवोंसे कुछ लाभ उठाया गया है ? क्या इस प्रश्नपर गहराईसे विचार किया गया है कि किन कारणोंसे देशका उत्थान होता है, किन कारणोंसे पतन ? मैं कहता हूँ नहीं और यही मेरी असफलता है !"

इतिहासकी आवाजमें बल था, सचाईकी तेजी थी। मुझपर उसका प्रभाव पड़ा, फिर भी उसकी गहराईमें उतरनेके लिए मैंने कहा, "क्या तुम अपनी बात समझानेके लिए कुछ उदाहरण दे सकते हो ?"

उसका चेहरा तन गया और आवाज तेजीसे भर उठी—"उदाहरण ? उदाहरणोंकी बात मुझसे मत करो। मेरे पास उदाहरणोंके सिवाय और है ही क्या ? लो सुनो, उनमें-से एक रखता हूँ तुम्हारे सामने इस देशके करोड़ों आदमी पुरुषोत्तम रामका नाम लेकर शान्ति पाते हैं, पर रामका जन्म जिस महान् वंशमें हुआ उसके उत्थान और पतनपर किसीका ध्यान नहीं जाता कि उस वंशके लोग किन कारणोंसे एक महान् साम्राज्यका निर्माण करनेमें सफल हुए और किन कारणोंसे वह महान् साम्राज्य बादमें नष्ट हो गया ?

लो, इधर ध्यान दो, मैं उसकी एक झाँकी तुम्हें दिखाता हूँ। राजा दिलीपका राज्य बहुत बड़ा नहीं था, पर उसमें शान्ति थी, व्यवस्था थी, सुख था। उनके घरमें महान् प्रतापी पुत्र रघुका जन्म हुआ, जिसने अपने चरित्र, वीरता और प्रशासनकी श्रेष्ठतासे दिग्विजय कर उस राज्यको एक विशाल साम्राज्यमें बदल दिया।

जानते हो इस साम्राज्यकी बात ? ओह, उसकी कोई उपमा नहीं, किसीसे तुलना नहीं। रघुकी विजय-यात्राओंका एक नक्शा बनाकर यदि उसपर नजर डाली जाये, तो साफ दीखेगा कि उसका साम्राज्य इतना विशाल था कि उतना विशाल न मुगल साम्राज्य हो सका, न और हो

कोई साम्राज्य।

महाराजा रघुने इस विशाल साम्राज्यपर अखण्ड राज्य किया और बादमें अपने पुत्र अजको उसे सौंप, स्वयं संन्यास ले लिया। राजा अज और उनके पुत्र दशरथने इस साम्राज्यकी अच्छी तरह रक्षा की और पुरुषोत्तम रामने तो उसके प्रभावको समुद्र पार तक फैला दिया, पर रामके बाद क्या हुआ ?

सारे वंशकी जो एकाग्रता और शक्ति अयोध्यामें केन्द्रित थी, वह विभिन्नतामें बँट गयी। कुछ लोग कुशावलीमें जमे, तो कुछ लवकी राजधानी शरावतीमें। भरतके दो पुत्र थे पुष्कल और तक्ष। पुष्कलने अपनी राजधानी पुष्कलावती बनायी, तो तक्ष तक्षशिलामें प्रतिष्ठित हो गये। लक्ष्मणके पुत्र अंगद और चन्द्रकेतुने अपनेको एक नये प्रदेशका राजा घोषित किया और इस तरह अपने समयके सर्वश्रेष्ठ राज्यकी राजधानी अयोध्या खण्डहर हो गयी ! राजधानी ही क्या खण्डहर हुई, रघुका महान् साम्राज्य ही खण्डहर हो गया।"

इतिहासने एक लम्बी साँस ली और कुछेक क्षणोंके लिए चुप हो गया, पर जरा ठहरकर वह बोला, "तुमने समझी इस उदाहरणकी गहराई?" उसकी आवाजमें अब तेज़ीका करारापन नहीं, दुःखका भीगापन था। अपने प्रश्नका आप-ही-आप उसने उत्तर दिया, "यह गहराई है विशाल दृष्टिसे हटकर मसलोंको छोटी दृष्टिसे देखना। विशाल भारतके विशाल हितोंको भूलकर राज्य, प्रान्त, गुट, व्यक्ति, जाति, सम्प्रदाय और भाषा आदिके मोहमें उलझना। यों कहो कि समग्रको भूलकर खण्डमें सोचना, खण्डमें जीना और वंश हो, जाति हो, देश हो या दल हो, जो खण्डमें सोचता है, खण्डमें जीता है, उसे समग्रता–पूर्णता कहाँ मिल सकती है ?"

मैंने कहा, "ठीक है तुम्हारी बात कि खण्डित दृष्टि, खण्डित चिन्तन और खण्डित जीवनसे पूर्णता नहीं मिल सकती।"

इतिहासका स्वर तेज हो उठा–"मेरी बात तो ठीक है ही, पर

प्रश्न तो यह है कि इन्हीं दोषोंके कारण लम्बी गुलामीके बाद जब अपने शहीदोंके बलिदान और वीरोंके तप-त्यागसे देश स्वतन्त्र हुआ, तो क्या तुमने विशाल भारतके विशाल हितोंकी दृष्टिसे देखना-सोचना सीखा या तुम अब भी राज्य, प्रान्त, गुट, व्यक्ति, जाति और सम्प्रदायके पचड़ोंमें फँसे हुए हो ? इस प्रश्नका उत्तर दो, तुम्हें मेरी असफलताका रहस्य मिल जायेगा।"

■

अब हम स्वतन्त्र हैं

१५ अगस्त १९४७ को भारत पूर्ण स्वतन्त्र हो गया। मैं कह नहीं सकता कि मुझे कितनी खुशी हुई। सचाई यह है कि १९२० से १९४७ तकके २७ वर्षोंमें मेरे मानसका दृष्टि-बिन्दु भारतकी स्वतन्त्रतापर टिका था और इन वर्षोंमें, गुलामीकी पीड़ासे मेरी आत्मा छटपटाया करती थी। जंगलोंके एकान्तमें मैं अकसर बन्दिनी माँका ध्यान कर रोया करता था और जेलके सीखचोंमें बैठे-बैठे भी मैं गुलामीकी असह्य पीडाका अनुभव किया करता था। ओह, कैसी तड़प थी वह! यह तड़प भाषणोंमें, लेखोंमें, बात-चीतोंमें और जीवनके हर कार्य-व्यवहारमें समायी हुई थी, १९२८-२९ में मैंने लिखा था—

> कैसी लज्जा की घटना है
> हम जीवित और माँ परतन्त्र!
> एक बार मिल जूझें आओ
> मर जायें या बनें स्वतन्त्र!
> हुए सफल यदि तब क्या कहना
> मरना पड़े, तदपि क्या शोक!
> पारतन्त्र्य के बन्दीगृह से
> क्या न भला है यम का लोक!

परतन्त्रताके इस बन्दी-गृहकी दीवारें टूटीं तो जीवन एक अद्भुत नशेसे भर उठा और १५ अगस्त १९४७ की रातको पल-भर भी नींद नहीं आयी। नींद तो तब आये, जब कोई बिस्तरपर लेटे। कभी मैं प्रार्थना करता, कभी पृथ्वीको थपथपाता, कभी आसमानको देखता और कभी

गाने लगता।

कभी वो दिन भी आयेगा कि जब आज़ाद हम होंगे!
ये अपनी ही ज़मीं होगी, ये अपना आसमाँ होगा!

और, कितनी प्रसन्न है शहीद कवि श्रीमुकुन्दलालकी इन पंक्तियोंसे! आज वह सपना पूरा हो गया था और मुझे अनुभव हो रहा था कि हमारे शरीर आज आसमानमें नाच-सा रहे हैं। मुझे लग रहा था कि मैं आज बदल गया हूँ, कुछ और हो गया हूँ और मेरा रोम-रोम स्वतन्त्रताके गौरवसे भर उठा था।

स्वतन्त्रताके साथ ही आयी साम्प्रदायिक उपद्रवोंकी बाढ़। चोरोंका अभाव और बदमाशोंके बन्धन तो थे ही, शरणार्थी बन्धुओंकी दुःखगाथाने चोटमें खाजका काम किया और जीवन दूभर हो उठा। जो मिलता, कहता – "क्यों साहब, यही है आपकी आज़ादी!"

यह कहनेमें भी लाज न चूकते – "इससे तो वह गुलामी ही अच्छी थी!" और यह भी कि "कहाँ है आज़ादी!" सचमुच आज़ादी कहीं न थी, याने आज़ादी तो सब जगह थी, पर उसकी अनुभूति कहीं न थी, उसके गौरवका एहसास किसीमें न था। मेरा मन दुःखसे भरा था, पर इसका उत्तर मेरे पास न था कि जब देश पूर्ण स्वतन्त्र है, तो देशवासी यह अनुभव क्यों नहीं करते कि हम स्वतन्त्र हैं!

मई १९४८ : मसूरी।

"चलिए, आपको बुहरटाकका मेला दिखा लाऊँ।"

आते ही सुहृद्वर श्री गिरीशदत्त पाण्डेयने हड़बड़ी-सी मचा दी, तो मैंने पूछा, "अरे भाई, क्या है यह बुहरटाक?"

पाण्डेयजी बोले, "यह नये ढंगका इण्टरमीडिएट कालेज है। भाई साहब, मसूरीका यह कालेज देशमें इतना प्रसिद्ध है कि इसमें नेहरू-परिवारके बालक भी शिक्षा पा चुके हैं। आज उसीका वार्षिक मेला है।"

मैंने पूछा, "क्यों भाई, अब क्या कमी आ गयी है हैकमैनमें?"

बोला, "एक तो अब वे राजा-नवाब छूमन्तर हो गये हैं। सुना है सर-दार पटेलने उनका ऐसा शिकंजा कस दिया है कि मसूरी तो दूर, अब वे अपनी कोठीके बरामदेमें झांकते हुए भी हिचकते हैं। दूसरे, कांग्रेसने शराब बन्द कर दी है। शराब ही यहाँकी जान थी—रौनकी थी। वो दिन चलते थे कि परिस्तान धरतीपर उतर आया था।"

जरा रुककर धीरेसे कहा, "बाबूजी, मुल्कमें ऐसी मारकाट मची कि मुसलमान एक नहीं आया और सरदार, खाने-पीनेमें मुसलमान खूब बटुआ खोलता है। ये पाकिस्तानी शरणार्थी यहाँ आ गये हैं, तो मसूरीमें दिये जो जल रहे हैं, नहीं तो यहाँ घुप्प हो जाता बाबूजी! मसूरी असलमें अंग्रेजों-का मजा-घर था। वे बेचारे गये सब, थोड़े-बहुत हैं, उनका भी पता जाने कब कट जाये!"

चलते-चलते धीरेसे कहा, "अब तो यहाँ जो कुछ है, ये पंजाबी ही हैं, बाबूजी!"

इसी उजड़े हुए हैकमैनमें हम बैठे थे, पीछेकी एक मेजपर, जहाँसे पूरा हाल हमें दीख रहा था। ये सामने बैठे हैं एक बूढ़े राजा साहब और उनके पास ही एक ऊँचे अफ़सरकी पत्नी। इनके सामने ही यह एक स्वस्थ और रूपवती सुन्दरी, जिसके अंग-अंगमें है थिरक और शोखी! ये कोई रानी हैं, जिनके राजा हैं अपनी अँगरेज़ पत्नीके साथ विलायतमें और ये बिता रही हैं यहाँ विधुर जीवन। वे दूर बैठे हैं एक और अफ़सर, कुछ अँगरेज़ स्त्री-पुरुष और बाक़ी सब पंजाबी भाई-बहनें!

अँगरेज़ संयोजकने अँगरेज़ीमें घोषणा की कि बाजोंमें स्वर जागे और जोड़े उठे। बूढ़े राजाके साथ वह अफ़सर-पत्नी और रानी साहबाके साथ उनके वे कोई। इसके साथ यह और उसके साथ वह। नृत्य आरम्भ।

बूढ़ा राजा पुराना खिलाड़ी है और श्रीमतीजी विलायतके नृत्य-घरोंकी

ेलो। खूब जोडी है।

मैं कल्पनाकी सीढ़ी लगा राजा साहबके भीतर उतर गया। दोनों तिकडे आपसमें बातें कर रहे थे। बायेंने कहा, "क्या नाच और क्या तमाशा; जब आँखोंमें लाल परोका सरूर न हो।" दायाँ बोला, "देशमें जो कुछ हुआ, अच्छा हुआ, पर जिन्दगीके ये पाँच-सात साल और आरामसे कट जाते!"

वह नाच रही है रानी! इसके पैरोंमें थिरक, आँखोंमें शोखी और देहमें स्फूर्ति है। मैं सोच रहा हूँ – यह बेचारा विधवा है या सधवा? देशमें हजारों स्त्रियाँ धनके नामपर पुरुषोंके खूँटेसे बाँध दी गयी हैं। उन्हें सन्तोष है कि वे विवाहिता हैं और यह सन्तोष ही उनका सौभाग्य-सिन्दूर है। साड़ी, आभूषण और सुविधाओंमें अपनेको भूला जीवनका घेरा घूम रही है। साड़ी, आभूषण और सुविधासे अलग उनको जो कुछ चाहिए, समाजमें वह भी दुर्लभ नहीं। जीवनमें कभी भीतरकी सच्ची प्यास या कराह जागती भी है, तो हैकमैनके दवाखानेमें उसकी गोली सुलभ ही है – फिर विद्रोहकी आग इनमें कैसे जले? क्यों जले? और कौन जलाये?

पतिदेवके लिए भी अपने कार्यपर पछतानेकी गुंजायश नहीं। उनसे स्वयं देवीजी या मुझ-सा कोई सुधारक कुछ कहे, तो वे कहते हैं, "अरे भाई विलायतमें रहूँ या देशमें; इसके साथ रहूँ या उसके, उन्हें तो कोई कष्ट नहीं है। उनके आरामका तो मैंने पूरा प्रबन्ध कर रखा है!"

उनकी दृष्टिमें 'पूरे प्रबन्ध' का अर्थ है – रोटी-कपड़ेका प्रबन्ध। 'तब ठीक है, श्रीमतीजीके लिए विद्रोह-चिन्ता व्यर्थ है' और श्रीमान्‌के लिए आत्मचिन्ता। खेलो, कूदो; मजा करो, क्या रखा है विद्रोहमें और क्या धरा है आत्म-बोधमें?

नृत्य समाप्त हुआ, तो कुछ बेहूदे गाने हुए और बहुत घटिया ड्रामा एक हास्य-सा। दर्शक तालियाँ बजा रहे थे, जैसे वे कलाका कोई महान्

देखो। खूब जोड़ी है।

मैं चन्दनाकी सीढ़ी लगा राजा साहबके भीतर उतर गया। दोनों पेफटे आरामसे बातें कर रहे थे। बाईने कहा, "क्या नाच और क्या तमाशा, जब आँखोंमें लाल परीक्षा सच्चर न हो।" दादी बोला, "देशमें जो कुछ हुआ, अच्छा हुआ, पर जिन्दगीके ये पाँच-सात साल और आराममें कट जाते!"

यह नाच रही है रानी! इसके पैरोंमें थिरक, आँखोंमें शोखी और देहमें अठखिलन है। मैं सोच रहा हूँ – यह बेचारा विधवा है या सधवा? देशमें हजारों स्त्रियाँ धनके नामपर पुरुषोंके खूँटेसे बाँध दी गयी हैं। उन्हें सन्तोष है कि वे विवाहिता हैं और यह सन्तोष ही उनका सौभाग्य-सिन्दूर है। साड़ी, आभूषण और सुविधाओंमें अपनेको भुला जीवनका पेग घूम रही है। साड़ी, आभूषण और सुविधासे अलग उनको जो कुछ चाहिए, समाजमें वह भी दुर्लभ नहीं। जीवनमें कभी भीतरकी सच्ची प्यास या कराह जागती भी है, तो हैकमैनके दवाखानेमें उसकी गोली सुलभ ही है – फिर विद्रोहकी आग इनमें कैसे जले? क्यों जले? और कौन जलाये?

पतिदेवके लिए भी अपने कार्यपर पछतानेकी गुंजायश नहीं। उनसे स्वयं देवीजी या मुझ-सा कोई सुधारक कुछ कहे, तो वे कहते हैं, "अरे भाई विलायतमें रहूँ या देशमें; इसके साथ रहूँ या उसके, उन्हें तो कोई कष्ट नहीं है। उनके आरामका तो मैंने पूरा प्रबन्ध कर रखा है!"

उनकी दृष्टिमें 'पूरे प्रबन्ध' का अर्थ है – रोटी-कपड़ेका प्रबन्ध। 'सब ठीक है, श्रीमतीजीके लिए विद्रोह-चिन्ता व्यर्थ है और श्रीमान्‌के लिए आत्मचिन्ता। खेलो, कूदो; मौज करो, क्या रखा है विद्रोहमें और क्या धरा है आत्म-बोधमें?

नृत्य समाप्त हुआ, तो कुछ बेहूदे गाने हुए और बहुत घटिया ढंगका एक हास्य-सा। दर्शक तालियाँ बजा रहे थे, जैसे वे कलाका कोई महान्

दूधवाला गरम हो उठा—"आपके शहरमें होगा वैसाका वैसा, हमारे शहरमें तो जहाँ अँगरेजका कुत्ता नहीं जा सकता था, वहाँ हम जाकर शानसे बैठते हैं। पहले डण्डेके पास-पास भी डरे-दुबके-से चलते थे। अब बीच सड़कमें चलते हैं, जैसे राजा नवाब हों।"

"मैंने अपनेको बदला और उसके स्वरमें स्वर मिलाया—"हाँ भाई-जी, आपकी यह बात तो ठीक है, डर तो अब किसीका नहीं रहा, अँगरेज ही अब तो बचकर चलता है।"

वे अपनी राह चले गये, मैं एक बेंचपर बैठ गया। समयकी बात, तभी एक घटना हो गयी। सामनेकी बेंचपर एक अपटूडेट व्यक्ति बैठे थे। नीचेसे आकर एक मैले कपड़ोंवाला पहाड़ी युवक उसी बेंचपर बैठ गया। उन्हें यह अच्छा नहीं लगा और झिड़ककर उन्होंने कहा, "ऐ, उधर बैठो!"

युवकपर झिड़कीका कोई असर नहीं पड़ा और बेदर्दीसे उसने कहा, "क्यों? यहाँ तो काफी जगह पड़ी है, आप फैलकर बैठ जाइए!"

वे सज्जन नाराज हुए, "बकता है! उधर बैठ!"

युवकपर जरा भी असर नहीं पड़ा। उसने अपने जूते भी बेंचपर ही रख लिये और सरारेसे कहा, "साहबजी, आजादी सारे हिन्दुस्तानको मिली है, कुछ आपको ही नहीं।"

वे सज्जन उठकर चले गये और मैं सोचने लगा—१५ अगस्त १९४७ को आजादी देशके नेताओंके हाथमें आयी थी, १९४८ में जिसमें कुछ लोग अस्त-व्यस्त थे और कुछ अपरिचित, १९५१-५२ में जिसका स्पन्दन देशके भावनाशील और बौद्धिक लोगोंने अनुभव किया था, १९५४-५५ में जिसके प्रति लोगोंके मनमें दिखावटकी रेखाएँ खिंची थीं, १९६० में मैं उस आजादीके गौरवका उन्माद लोगोंमें देख रहा हूँ। लोग अब अनुभव करते हैं कि हम स्वतन्त्र हैं और हमें स्वतन्त्रताके अधिकार प्राप्त हैं।

गणराज्य-स्थापनाकी घोषणा की। पहले आम-चुनाव शान्तिसे हो गये और व्यवस्थित शासन आरम्भ हुआ। पंचवर्षीय योजनाके माध्यमसे देशका नवनिर्माण आरम्भ हो गया। विश्वके महान् राज्योंकी ओरसे सहायता मिलने लगी। कण्ट्रोल हटा दिया गया – चीजोंकी सुलभता बढ़ी, जीवन सुगम हुआ और लोगोंके मनमें स्वतन्त्रताकी चेतनाका आभास झलकने लगा। पाकिस्तानकी नित नूतन शासकीय कलाबाजियोंके शीशेमें भारतकी उन्नति और भी स्पष्टतासे भारतवासी देख सके और इससे उनके मनमें स्वतन्त्रताकी चेतना-रेखाएँ और भी गहरी हो उठीं। विश्वके महान् पुरुषोंके आगमनसे इस गहराईमें एक नयी चमक आयी। इसी बीच विभिन्न राज्य सरकारोंने कुछ क़ानून बनाये। समाजके साधारण जनोंने न्यायालयमें उन क़ानूनोंको ललकारा और फलस्वरूप वे सरकारें हार गयीं और नागरिक जीत गये। इसने लोगोंके मनमें स्वतन्त्रताका विश्वास पैदा किया और लोग सोचने लगे – अब हम स्वतन्त्र हैं।

जून १९६० : मसूरी।

घूमने निकला, तो सूरज पहाड़ोंसे ऊपर आ ही रहा था और समय बहुत सुहावना था। पैर लम्बे हो गये और हैप्पी वेली जा निकला उस छोर तक जहाँ नीचे गाँव बसे हैं। दो गाँववाले कमरपर दूधके डिब्बे बाँधे चले आ रहे थे। मैं भी उनके साथ हो लिया और बातें होने लगीं। कोई आध मील तक घरेलू बातें करनेके बाद मैंने उन्हें तराज़ूपर धरा – "भैया, शहरी लोगोंकी शान है, मजे हैं, पर मेरे-तुम्हारे-जैसे लोगोंको तो स्वराज्यका कुछ फायदा पहुँचा नहीं।"

अरे साहब, सुनते ही वह बड़ा दूधवाला तमक उठा – "आपको नहीं पहुँचा होगा सौराजका फायदा; हमें तो बहुत पहुँचा है।"

मैंने नाराज़ों-जैसे स्वरमें कहा, "क्या फायदा पहुँचा है? जैसा पहले था, वैसा अब है।"

दूधवाला गरम हो उठा—"आपके जमानेमें होगा वैसाका वैसा, हमारे जमानेमें तो जहाँ अँगरेजका कुत्ता नहीं जा सकता था, वहाँ हम जाकर शानसे बैठते हैं। पहले हाईके पास-पास भी डरे-डरे-से चलते थे। अब लोग मजेमें चलते हैं, जैसे राजा नवाब हों।"

"मैंने अपनेको बदला और उसके स्वरमें स्वर मिलाया—"हाँ भाईजी, आपकी यह बात तो ठीक है, डर तो अब किसीका नहीं रहा, अँगरेज ही अब तो बचकर चलता है।"

वे अपनी राह चले गये, मैं एक बेंचपर बैठ गया। समयकी बात, तभी एक घटना हो गयी। सामनेकी बेंचपर एक अपटूडेट व्यक्ति बैठे थे। नीचेसे आकर एक मैले कपड़ोंवाला दहाड़ा युवक उसी बेंचपर बैठ गया। उन्हें यह अच्छा नहीं लगा और झिड़ककर उन्होंने कहा, "ऐ, उधर बैठो!"

युवकपर झिड़कीका कोई असर नहीं पड़ा और बेहयाईसे उसने कहा, "क्यों? यहाँ तो काफी जगह पड़ी है, आप फैलकर बैठ जाइए!"

वे सज्जन नाराज हुए, "बकता है! उधर बैठ!"

युवकपर जरा भी असर नहीं पड़ा। उसने अपने जूते भी बेंचपर ही रख लिये और शरारतसे कहा, "साहबजी, आजादी सारे हिन्दुस्तानको मिली है, कुछ आपको ही नहीं।"

वे सज्जन उठकर चले गये और मैं सोचने लगा—१५ अगस्त १९४७ को आजादी देशके नेताओंके हाथमें आयी थी, १९४८ में जिससे कुछ लोग अस्त-व्यस्त थे और कुछ अपरिचित, १९५१-५२ में जिसका स्पर्श-भान देशके भावनाशील और बौद्धिक लोगोंने अनुभव किया था, १९५४-५५ में जिसके प्रति लोगोंके मनमें विश्वासकी रेखाएँ खिंची थीं, १९६० में मैं उस आजादीके गौरवका एहसास लोगोंमें देख रहा हूँ। लोग अब अनुभव करते हैं कि हम स्वतन्त्र हैं और हमें स्वतन्त्रताके अधिकार प्राप्त हैं।

सूरज खिल रहा था। मीठी धूप बरस रही थी। मैं उसमें नहाता-सा चला आ रहा था। आ गया बाजार, भीड, आना-जाना, आवाजें—गति। मैंने देखा—सडकपर जगह-जगह मूँगफलीके छिलके पडे थे। पानकी पीकों-से सडक खराब थी। एक धक्का-सा लगा और तब मनमें उगा यह विचार—मेरे देशवासियोंमें स्वतन्त्र मानवके अधिकारकी भावना तो जाग उठी है, पर स्वतन्त्र मानवके कर्त्तव्यकी भावना नहीं जागी। जिस दिन यह जागेगी, हमारी स्वतन्त्रताका अनुष्ठान उसी दिन पूर्ण होगा।

■

लोहेके स्टैच्यू बोल उठे !

आदमीके चेहरेपर एक मुख है। मुखमें वाणी है, जो हृदय और मस्तिष्कके भावोंको भाषाका माध्यम देती है, पर इस वाणीके अतिरिक्त भी मनुष्यके चेहरेकी एक वाणी है, जो बिना भाषाके बोलती है।

मनुष्यको देखते ही हमपर, एक छाप पड़ती है। उसे हमारी भीतरी आँखें देखती हैं और मनके कान सुनते हैं, यह बिना भाषाकी खामोश वाणी है।

यह मैंने कही आदमी–मनुष्य–इनसानकी बात, पर एक अजीब बात बताऊँ कि कुछ विशिष्ट भवनों-मकानोंमें द्वार तो होते ही हैं, मुख भी होता है और वाणी भी। मैंने दिल्लीके लाल किले और नयी दिल्लीके संसद्-भवनमें ऐसे चेहरे देखे हैं और उनकी खामोश आवाज मेरे मनके कानोंने सुनी है।

उस दिन कलकत्तेकी रेड रोडसे गुज़रा, तो देखता हूँ, यह खड़ा है एक ओर एक विशाल भवन — सफेद संगमर्मरसे निर्मित। द्वारके साथ उसका भी एक चेहरा है, चेहरेमें मुख है, मुखमें मुखर वाणी है।

उसे सुननेको मैं अपने सूक्ष्म कानोंमें सिमट आया। वे खामोश बोल कुछ यों थे — "मैं साम्राज्ञी विक्टोरियाका स्मारक हूँ — विक्टोरिया मेमोरियल — और मुझमें ताजमहलका सौन्दर्य एवं जुमा-मस्जिदकी विशालता है।"

मेरी आँखोंने निर्निमेष हो, एक बार फिर उसे अपने अंकमें समेट लिया, पर अन्तःचेतनाकी अनुभूतिके बोल कुछ यों थे — "सौन्दर्य और विशालतामें सन्देह नहीं, पर तुममें ताजमहल एवं जुमा-मस्जिदकी वह

सजीव आन्तरिकता नहीं, जो आँखोंकी राह चाँदनी-सी मानसके आँगनमें भर जाती है।"

और मैं इस भवनके निकट हो, निहारने लगा।

बायाँ हाथ है कृन्देपर और दायें हाथसे पकड़े है वह चोगा। नस-नसमें उसकी तनाव है – वीणाके तारका तनाव नहीं, जो उँगलीका स्पर्श पाते ही झंकृत हो वातावरणको एक मीठे – मुलायम स्पन्दनसे भर देता है; हाँ धनुषकी प्रत्यंचाका तनाव, जो चुटकीकी चिकोट पाते ही टंकोरसे वातावरणको एक पैने आतंकसे भर देता है – यह दर्पका, अहंकारका, तनाव, जो अपनी विजयके उल्लाससे नहीं, दूसरेकी पराजयके उपहाससे पनपता है।

विक्टोरिया मेमोरियलके सामने मैदानमें खड़ा है यह लॉर्ड कर्जनका स्टैच्यू। ओह, इस तरहकी अकड़ कि आदमीसे अपना ही आपा उठाये न उठे और थामे न थमे!

इस दर्पकी पृष्ठ-भूमि क्या है?

जिस छोटे-ऊँचे चबूतरेपर कर्जन खड़ा है, उसके चार कोनोंपर चार छोटी लोह-प्रतिमाएँ जड़ी हैं – पैनल।

एकमें रानी खड़ी है और दो आदमी कपड़ा बेच-खरीद रहे हैं – एक ग्राहक, एक विक्रेता।

दूसरेमें रानी अकाल-पीड़ितोंको भोजन दे रही है।

तीसरेमें एक बालक तख्ती-पुस्तक लिये खड़ा है और एक माता फूलोंकी टोकरी लिये।

चौथेमें एक फावड़ेवाला पुरुष है, खेतमें पानी सींचती एक नारी है, धान्य लिये बालक है।

क्या कहते हैं ये चार चित्रण?

ये कहते हैं: विक्टोरियाके राज्यमें अविकसित भारतको व्यापार-व्यवसाय

मिला, कलाकारको दृगमें मादकता मिली, महलोंके स्वप्नमें कृत्रिम विकास मिला और शिल्प मिली।

यह भारतके लिए अँगरेज़ी राजके दान-निर्माणका बयान हुआ। तो क्या कर्ज़नके दर्पमें इसी निर्माणकी चेतना है?

और यह क्या है? दर्प-दीप्त कर्ज़नके पैरों तले, ऊँचे चबूतरेके चारों ओर लौहपटपर निर्मित यह किस भवनका चित्र है?

ओह, यह तो ताजमहलका चित्र है – भारतीय स्थापत्यके गौरव, विश्वके एक अनुपम आश्चर्य ताजमहलका!

हाँ, ताजमहलका, पर उसका यह चित्रांकन यहाँ क्यों किया गया है? क्या केवल सौन्दर्य-वर्धनके लिए? अपने प्रश्नमें, अपनी जिज्ञासामें मैं खो गया और तब मैंने फिर एक बार कर्ज़नकी आँखोंमें झाँका। दर्पसे दमकती उन आँखोंमें कुछ यों था – "हाँ, एक भोंदू भारतीयको यही समझना चाहिए!"

मेरे चैतन्यने व्यंग्यकी इस चुभनमें चारों ओर हाथ फैलाये, तो लगा कि मेरी उँगली कहीं बिजलीके नंगे तारसे छू गयी है – ओह कर्ज़नके दर्पका रहस्य ताजमहलके इसी चित्रमें है!!!

बुद्धिने चौंककर पूछा, "क्या है वह रहस्य?"

मेरा चेतन बिजलीके उस झनझनाते धक्केसे उबर अब बोधकी स्थितिमें था। बोधकी स्थिति, जहाँ रहस्य उत्प्रेक्षाकी, काव्य भाषा – मानो या जैसे – की झिलमिलमें आँख-मिचौनी नहीं खेलता, तथ्य और यथार्थकी स्पष्टतामें खुली धूप-सा खिल उठता है।

भारतकी आत्मामें, भारतीय जीवनमें एक बाँकपन है और बाँकपन बन्धनके विरुद्ध कब कैसा विद्रोह कर बैठे, इसे कोई नहीं जानता, तो अँगरेज़ राजनीतिके लिए आवश्यक हुआ कि आत्मगौरवका यह बाँकपन चारों ओरसे बिना जाने ऐसी चोटें खाये कि हहराकर ढह पड़े।

ताजमहल भारतकी विशिष्टता है और उसके आत्मगौरवको गुलामीके

अन्धकारमें भी एक दीप्ति देता है। यह दीप्ति उस श्रीकान्तकी स्फुरणा देती है। तब बनाया गया यह विक्टोरिया मेमोरियल, जो ताजमहलके गौरवकी दीप्तिके दीपकको हाथकी थापकी-सी दिये-दिये कहता है :

पूछ तू ही नहीं है एक ताजमहल कि शरद्-पूर्णिमाकी चाँदनीमें सौन्दर्यका हीरा-सा चमके ! देख, मैं भी हूँ सफ़ेद संगमर्मरका ही एक महान् निर्माण, तेरेसे ऊँचा और विशाल !!

फिर तेरे भीतर है क्या ? सिवाय दो क़ब्रोंके, जिनमें गड़े मुरदोंके दो रूखे कंकाल अपने अतीतको रोया करते हैं। इधर देख, मेरे भीतर है एकसे एक सुन्दर कलाकृतियोंका संग्रह। हुँ : बड़ा आया है ताजमहलका बच्चा !!!

और मैं देख रहा हूँ, विक्टोरिया मेमोरियलके निर्माता लॉर्ड कर्जनके रोम-रोममें छाये तनावमें इसी ललकारका दर्प कसा हुआ है !

बुद्धि उचककर पूछती है, क्या कर्जन अपने लक्ष्यको पा सका ? क्या विक्टोरिया मेमोरियलसे ताजमहलकी दीप्तिका दीपक झपझपाया ?

प्रश्न उमडते रहे, पग आगे बढते रहे। कर्जन और सिंहद्वारके बीच, एक ऊँचे मंचपर जमे सिंहासनपर आसीन हैं ये महारानी विक्टोरिया। उच्चता, महत्त्व और शालीनतासे वातावरण और मुद्रा इस तरह ओत-प्रोत कि मैं भूल गया हूँ कर्जनके दर्पको और विक्टोरियाको; बस मेरे मनके चारों ओर है एक वृद्धत्व और हाँ, एक ममतामय महान् मातृत्व।

माँ, प्रणाम !

स्वरहीन शब्दोंकी यह श्रद्धांजलि जैसे बिना दिये ही मैंने विक्टोरिया-को अर्पित कर दी। सच कहूँ, मुझसे अर्पित हो गयी।

मैं देख रहा हूँ, महारानी भौंचक जिज्ञासा और अवाक् आश्चर्यसे अभिभूत हैं — "अच्छा ! तुम मेरा सम्मान करते हो ?"

"हाँ, निश्चय ही; यह तो मेरे देशकी सभ्यता है माँ !"

कहते-कहते ही मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मेरे हृदयकी सरल ममता तरल हो, उनके अन्तर तक पहुँच गयी है।

मैं सुन रहा हूँ, उनके रुकते-झिझकते-से स्वर मुझ तक आ रहे हैं – "तब तो तुम्हें दुःख होगा कि मेरे वंशजोंका राज्य अब यहाँ नहीं रहा ?"

"माँ, वह तो एक अन्याय था और अन्यायके निवारणमें किसी न्याय-वान्को भला दुःख क्यों हो ? फिर उस अन्यायका निवारण अपने हाथों कर आपके वंशजोंने तो विश्वके इतिहासमें यश कमाया है।" मैंने कहा।

"ठीक है तुम्हारी बात; विवशताको सफलतामें बदल देनेका वैसा उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है।" वे बोलीं और उभर आ रहे अवसादके कोहरेको थकियाती-सी नये प्रश्नमें उभरीं – "मेरा यह स्मारक तो शानदार है ?"

भारतका संस्कार है, बूढ़ोंकी बात रखना, तो मुँहने अनायास कहा – 'हाँ' और हृदयके मारस्यमें 'आँ' का अनुनासिक उन तक तैर-सा गया, तो मुझ तक उभर आया उनका प्रश्न – "फिर इसे ताजमहल-जैसा महत्त्व क्यों नहीं मिला ?"

उफ् !

मेरे कलेजेमें एक सुई-सी चुभ गयी – ओह, दर्पदीप्त बर्जनके पैरों तले, एक लोहपटपर उभरे ताजमहलके चित्र और विक्टोरियाके इस प्रश्नकी जीवन-डोर भीतर-ही-भीतर आपसमें गुँथी है !

चुभन पैनी थी, गहरी थी, तो मेरे स्वर आवेशका हलका-सा स्पर्श पा ही गये – "ताजमहल दो हृदयोंके प्रेमकी ओत है, दो भिन्न व्यक्तियोंकी अभिन्नताका प्रतीक, यह मेमोरियल यह आपका स्मारक कहाँ है महारानी? यह तो एक सुनियोजित धूर्तताकी प्रदर्शनी है !"

आवेशका हलका स्पर्श गहरा हो गया – "ताजमहल बारह दिनमें बना हो या बारह वर्षोंमें, क्षण-क्षण उसके निर्माताकी भावना रही कि ऐसा बने यह ताज कि युग युगों तक मेरी प्रियतमाकी आत्माको शान्ति मिले। इसके

विरुद्ध मेमोरियल बारह दिनोंमें बना हो या बारह वर्षोंमें, इसके निर्माताकी क्षण-क्षण यह भावना रही कि ऐसा बने यह मेमोरियल कि दासताके दिनों भी भारतीयोंके आत्मगौरवकी दीप्ति देनेवाले उस ताजमहलका पानी उतर जाये – कमसे कम सौन्दर्य और स्थापत्यके क्षेत्रमें उसका एकत्व, उसकी मोनोपॅली तो टूट ही जाये !

महारानी, ताजमहल प्यारपगी ताजका स्मारक है, क्योंकि उसके लक्ष्यसे बना था – उसकी एक-एक ईंट उसका ध्यान करके रखी गयी थी, पर मेमोरियलके निर्माण-लक्ष्यमें आप कहाँ हैं ? फिर कहाँका स्मारक और किसका स्मारक ? कहा नहीं मैंने कि यह तो सुनियोजित धूर्तताकी एक प्रदर्शनी है ।

मुझे लगा कि निर्माण-धातुका कालापन विक्टोरियाके मानस तक सघन हो, चिपट गया है । यह दृश्य इतना दयनीय है कि देखा न जाये । इधर-उधर करनेको मैंने आँखें फेरी, तो देखा – विक्टोरियाके दोनों ओर खड़े हैं दो बन्दूकधारी सिपाही, जिनमें एककी बन्दूक किसीने बलपूर्वक तोड दी है ।

मेरे बायें हाथ है विशाल कैथोलिक चर्च । मैं सुन रहा हूँ यह चर्च कुछ कह रहा है । क्या कह रहा है यह चर्च ? मेरे अनुयायियोंकी विजय-यात्राका व्याकरण यह है कि पहले बाइबिल हाथमें लिये पादरी पहुँचे और तब कन्धोंपर बन्दूक ताने सिपाही । आज भारतमें हमारे सिपाहीकी बन्दूक टूट गयी है, पर मैं अपना काम अब भी किये जा रहा हूँ और लो सच बता दूँ तुम्हें, अब पादरी और सिपाही दोनोंका काम मेरे ही हाथोंमें है ।

विचारोंसे मन इतना भर गया है कि कुछ नयी बात सुनने और सोचनेको जी नहीं चाहता, पर आँखें तो अपना काम कर ही रही हैं ।

इसी सड़कपर बायें हाथ है वह एक ऊँचा स्टैच्यू – घोड़ेपर सवार किचनर । वाह, घोड़ेमें क्या लहरा है । अपना दायाँ पैर उठाये वह अडोल

हिन्दुस्तानके वातावरणको भर रहा है, जैसे इसने इशारेसे कह रहा हो कि मर्द हो या नारी, नदी हो या नाला, चिन्ता क्या है, तुम ज़रा लगाम दोनों तो करो, पर जो चाहनेके बाद छूटे वह क्या सवार ? सवार लगामको यहाँ हाथों थामे जाने लन्दनको देख रहा है।

किचनरके ठीक सामने घोड़ेपर सवार मिण्टो हैं। यह घोड़ा अपना दायाँ पैर आगे बढ़ाये, बढ़नेको उतावला है, पर मिण्टोकी मर्ज़ी लगाममें ज़रा नरमी तो आये।

इसी सड़कपर ज़रा और आगे बायें हाथ है घोड़ेपर सवार राबर्ट्‌स। घोड़ा मुँह बाये पूरी तेज़ीमें और सवार दर्पमें जलता हुआ। इसके ठीक सामने अपने घोड़ेपर सवार लैन्सडाऊन, अपनी प्रभावशाली मुद्रामें और इसके नीचे एक छोटा स्टैच्यू, जिसमें दो बालक हाथ मिला रहे हैं।

मुझे याद आ गया पुराने युगका एक पुलिस कप्तान रॉबर्ट्स। उसका एक खानसामा था मुसलमान और दूसरा हिन्दू। दोनों भरे, दोनों लड़ाके—मुतफ़मिज़ाज, जब-तब आपसमें गुत्थम-गुत्था। कप्तान जब सुने कि वे जूझ रहे हैं, तो दौड़कर बाहर आये और दोनोंके कन्धे थपथपाकर कहे—"शाबाश, तुम तुम एक, तो हम लन्दन।"

बालकोंके स्टैच्यू देखकर मैं सोच रहा हूँ कि 'तुम-तुम' तो एक हुए नहीं पर 'हम' और उनके भाई-बन्धु लन्दन पहुँच हो गये। भारतकी स्वतन्त्रता इतिहासका कितना बड़ा चमत्कार है!

कल्पनाका चित्र भी कितना अद्भुत है? मैं देख रहा हूँ किचनर, मिण्टो, राबर्ट्‌स और लैन्सडाउन आकर विक्टोरियाके पास खड़े हो गये हैं। अरे, यही नहीं, ये तो देश-भरसे अँगरेज़ोंके प्रमुख स्टैच्यू यहीं आ गये हैं—कई किंग, कई गवर्नर जनरल, कई कमाण्डर इन-चीफ और कई दूसरे योद्धा—एकसे एक शानदार और बाँके!

उन्हें देखकर मुझे एक बात सूझ आयी और मैं उनसे कह उठा—

भारत ! अंग्रेजी शासन अब इस देशमें नहीं रहा और हम स्वतन्त्र हैं कि जो चाहें करें, पर आपको देखकर मुझे अपने देशकी सहिष्णुता और उदारतापर गर्व हो रहा है कि आज भी आप लोग अपने-अपने स्थानपर अपने पूर्व गौरव और गर्वकी मुद्राओंमें उसी तरह सम्मानपूर्वक खड़े हैं।

मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मेरी बात सुनकर वे सब गहरे विचारमें डूब गये हैं और तब सुनाई पड़ा निस्तब्धतामें कोनों-कोनोंसे यह आवाज—"ठीक है, हम आज भी अपने-अपने स्थानपर अपने पूर्व गौरव और गर्वकी मुद्राओंमें ज्यों-के-त्यों सम्मानपूर्वक खड़े हैं, पर आपको इस विडम्बनाका क्या पता कि पहले हम अपने आत्मगौरव और राष्ट्रीय गर्वके चिह्न थे और अब हम अपने आत्मगौरव और राष्ट्रीय गर्वके कलंक चिह्न हैं!"

यह शायद बूढ़े एडवर्डकी आवाज थी।

■

रावर्ट नर्सिङ् होममें !

कल तक जिनका अतिथि था, आज उनका परिचारक हो गया; क्योंकि मेरी आतिथेया अचानक रोगकी लपेटमें आ गयीं और उन्हें इन्दौरके रावर्ट नर्सिङ् होममें लाना पड़ा।

यह है सितम्बर १९५१!

रोगका आघात पूरे वेगमें, परिणाम कँपकँपाता और वातावरण चिन्तासे घिरा-घेरा कि हम सब सुस्त। तभी मैंने चौंककर देखा कि अपने विशिष्ट धवल वेषसे आच्छादित एक नारी कमरेमें आ गयी हैं।

देह उनकी कोई पैंतालीस वसन्त देखी, वर्ण हिम-श्वेत, पर अरुणोदयकी रेखाओंसे अनुरंजित, क़द लम्बा और सुता-सधा।

"लम्बा मुँह अच्छा नहीं लगता; बीमारके पास लम्बा मुँह नहीं।" आते ही उन्होंने कहा। भाषा सुघरी, उच्चारण साफ़ और स्वर आदेशका, पर आदेश न अधिनायकका, न अधिकारीका, पूर्णतया माँका, जिसका आरम्भ होता है झिड़कीसे और अन्त गोदमें।

हाँ, वह माँ ही थी: होमकी अध्यक्षा मदर टेरेजा, जन्मभूमि जिसकी फ्रान्स और कर्मभूमि भारत। उभरती तरुणाईसे उमरके इस ढलाव तक रोगियोंकी सेवामें लवलीन, यही काम, यही धाम, यही राग, यही चाव और बस यही यही!

उन्होंने रोगीके दोनों म्लान कपोल अपने चाँदनी-चर्चित हाथोंसे थपथपाये, तो उसके सूखे अधरोंपर चाँदीकी एक रेखा खिच आयी और मुझे लगा कि वातावरणका बोझ कुछ कम हो गया।

तभी एक खटाक और हमारा डॉक्टर कमरेके भीतर। मदरने उसे देखते ही कहा, "डॉक्टर, तुम्हारा बीमार हँस रहा है।"

"हाँ, मदर! तुम हँसी बिखेरती जो हो।" डॉक्टर अपने जाने कितने अनुभव यों एक ही वाक्यमें गूँथ दिये।

मैंने भावनासे अभिभूत हो सोचा – जो बिना प्रसव किये ही माँ बन सकती है, वही तीस रुपये मासिकके योग-क्षेमपर बीस वर्षके दिन और रात सेवामें लगा सकती है और वही पीड़ितोंके तड़पते जीवनमें हँसी बिखेर सकती है।

तीसरे पहरका समय, थर्मामीटर हाथमें लिये यह आयीं मदर टेरेज़ा और उनके साथ एक नवयुवती, उसी विशिष्ट धवल वेषमें। गौर और आकर्षक। हाँ, गौर और आकर्षक, पर उसके स्वरूपका चित्रण करनेमें ये दोनों ही शब्द असफल। यों कहकर उसके आस-पास आ पाऊँगा कि शायद चाँदनीको दूधमें घोलकर ब्रह्माने उसका निर्माण किया हो। रूप और स्वरूपका एक दैवी साँचा-सी वह लड़की। नाम उसका क्रिस्ट हैल्ड और जन्मभूमि जर्मनी।

फ्रान्सकी पुत्री मदर टेरेज़ा और जर्मनीकी दुहिता क्रिस्ट हैल्ड एक साथ, एक रूप, एक ध्येय, एक रस।

"तुम्हारा देश महान् है, जो युद्धके देवता हिटलरको भी जन्म दे सकता है और तुम्हारे-जैसी सेवाशील बालिकाको भी।" मैंने उससे कहा, तो दर्पसे दीप्त हो वह स्टैच्यू हो गयी और अपना दाहिना पैर पृथ्वीपर वेगसे ठोककर बोली – "यस-यस।"

वह दूसरे कमरेमें चली गयी, तो मैंने मदर टेरेज़ाको टटोला, "आप इस जर्मन लड़कीके साथ प्यारसे रहती हैं?"

बोलीं, "हाँ, वह भी ईश्वरके लिए काम करत... भी, फिर प्यार क्यों न हो?" मैंने नश्तर घुमाया – '... रने पद-दलित किया था, यह आप कैसे

नश्तर तेज था, चुभन गहरी, पर मदरका कलेजा उनसे अछूता रहा। बोलीं, "हिटलर बुरा था, उसने लड़ाई छेड़ी, पर उससे इस लड़कीका घर भी ढह गया और मेरा भी; हम दोनों एक।"

'हम दोनों एक' मदर टेरेज़ाने झूममें इतने गहरे डूबकर कहा कि जैसे मैं उनसे उनकी लड़कीको छीन रहा था और उन्होंने पहले ही दाँवमें मुझे चारों खाने दे मारा।

मदर चली गयी, मैं सोचता रहा : मनुष्य-मनुष्यके बीच मनुष्यने ही कितनी दीवारें खड़ी की हैं—ऊँची दीवारें, मज़बूत फौलादी दीवारें, भूगोल-की दीवारें, धर्म-विश्वासकी दीवारें, जाति-वर्णकी दीवारें, कितनी मनहूस, कितनी नगण्य, पर कितनी अजेय!

क्रिस्ट हैल्डके पिता जर्मनीमें एक कालेजके प्रिन्सिपल हैं और उसने अभी पाँच वर्षोंके लिए ही सेवाव्रत ले लिया है।

रोगिणीके गहरे काले बाल देखकर उसने कहा, "तुम्हारे काले बाल मेरे पिताके हैं।" कहा कि वह स्मृतियोंमें खो-सी गयी।

मुझे लगा कि मैं ही क्रिस्ट हैल्ड हूँ। अपने माता-पितासे हजारों मील दूर, एक अजनबी देशमें, अकेली, खोयी, छली-सी और मेरी आँखें भर आयीं।

लड़की मेरे आँसुओंमें डूब-डूब गयी और किनारा पानेको उसने उन्हींमें उन्हें अपने रूमालसे पोंछ दिया। उसकी सदा हँसती आँखें सम ही नरम हो आयीं, पर जरा भी नम नहीं। मैंने पूछा, "घरसे चलते समय रोयी थीं तुम?" उसका भोला उत्तर था, "ना, माँ बहुत रोयी थी।"

फटी आँखों कुछ देर मैं उसे देखता रहा, तब कुछ बिस्किट उसे भेंट किये। बोली, "धन्यवाद, थैंक यू, दांग दू।" वह अक्सर हिन्दी-अंगरेजी-जर्मन भाषाओंके शब्द मिलाकर बोलती है।

हम सब हँस पड़े और वह हँसती-हँसती भाग गयी।

यह अनुभव कितना चमत्कारी है कि यहाँ जो जितनी अधिक बूढ़ी है, वह उतनी ही अधिक प्रफुल्ल है, मुसकानमयी है। यह किस दीपकी जोत है? जागरूक जीवनकी? सत्यदर्शी जीवनकी! सेवा-निरत जीवनकी! अपने विश्वासोंके साथ एकाग्र जीवनकी! भाषाके भेद रहे हैं, रहेंगे भी, पर यह जोत विश्वकी, सर्वोत्तम जोत है।

सिस्टर क्रिस्ट हैल्डका तबादला हो गया — अब वह धानीके भील-सेवा-केन्द्रमें काम करेगी। ओह, उस जंगली जीवनमें यह कर्पूरिका; पर कर्पूरिका तो अपने सौरभमें इतनी लीन है कि उसे स्वर्गके अतिरिक्त और कुछ दीखता ही नहीं, सूझता ही नहीं।

वह हम लोगोंको मिलने आयी — हँसती, खिलती, बिखरती और फुदकती। वहाँ जानेका उसे विषाद नहीं; हाँ एक नयी जगह देखनेका चाव उसके रोम-रोममें, पर मुझे उसका जाना कचोट-सा रहा था। वह दूसरे रोगियोंसे मिलने चली गयी।

इधर-उधर आते-जाते वह दो-तीन बार कमरेके बाहरसे निकली, पर फिर एक बार भी उसने उधर नहीं झाँका। मैंने अपनेसे कहा, "कोई उसमें लाख उलझे, उसे किसीमें नहीं उलझना है।"

और तब सिस्टर क्रिस्ट हैल्डका, सच यह है कि सिस्टर-मदर-वर्गका निस्संग-निलिप्त-निर्द्वन्द्व जीवन पूरी तरह मेरे मानस-चक्षुओंमें समा गया और मैंने फिर आप-ही-आप कहा — सिस्टर क्रिस्ट हैल्ड, हम भारतवासी गीताको कण्ठमें रखकर धनी हुए, पर तुम उसे जीवनमें ले कृतार्थ हुई।

तभी मेरे भीतर एक रोमांच उभर आया — हमारा समाज नारीको देवत्वसे जोडकर जो निर्माण कर पाया, वह कला-प्रदर्शनी देवदासी होकर ही रह गया; न सिस्टर बन पाया, न मदर। हमने युग-दृष्टि भी पायी, तो हमारे चरण भिक्षुणी और अर्जिका तक पहुँच गये, और बस, और बस!

स्त्री पहले कामिनी है, तब रमणी, तब नारी और तब माँ, पर ये न कामिनी, न रमणी, न नारी, बस माँ और माँ ही माँ — जो देती है सब

कुछ और लेती नहीं कुछ भी। तभी तो इनके हाथमें यह निर्मलता है, इनके मुखे मन्दरकमें भी यह निश्छलता है कि कामनाका कीटाणु और नहीं खोल पाता।

हम डेढ़ सदी पश्चिमके सम्पर्क में रहे और जो कुछ हमने पाया उसका पुल्लिंग है साहब और स्त्रीलिंग है मेमसाहबा – न मदर, न फादर ? तभी तो हमारी पूँजी रह गयी बाहरी उन्मुक्तता, साफ़ कहें, तो मर्यादा-हीनता और एक विशेष प्रकारकी रूप-सज्जा और हम ले न पाये आन्तरिक उन्मुक्तता, 'स्व' का स्वेच्छाशमन कर, सदा जागती पर-वृत्ति, लक्ष्य-दृष्टि, लक्ष्य-गति, न चुकनेवाले और न रुकनेवाले चरण।

और फिर ये मदर, ये मिस्टर, यह मिशनरी भावना ! इस जीवन-व्यापी उत्सर्गका प्रेरणा-केन्द्र क्या है ?

इस प्रेरणाका केन्द्र है – ईसा !

अचानक एक आँधी-सी मुझमें उठी और उसने मुझे झकझोर दिया – जब दूसरे महापुरुषोंकी प्रेरणा कुछ ही दिनोंमें मन्द पड़ गयी, तो ईसाके जीवनकी प्रेरणा हज़ारों वर्षोंके बाद भी इतनी सजीव कैसे है ? हमारे यहाँ विवेकानन्दने इस भावनाकी गहराईको अनुभव किया था और रामकृष्ण मिशनके रूपमें जगाया था।

अपने ढंगपर उन्होंने अपने साधकोंसे – राष्ट्रके तरुणोंसे पूछा था – मूर्तियोंके सामने घण्टियाँ ही टुनटुनाते रहोगे या जनताके जीवनमें जहाँ भगवानकी बाँसुरी बज रही है, जाओगे ?

मुझे लगा कि यह प्रश्न राष्ट्रके सारे वातावरणमें आज भी भर रहा है। साधनाशिवत वीणाके स्वरों-सा मधुर और मधुर।

■

एक दिनकी बात

ज्योतिने मुँह बनाकर कहा, "आज तो दे दीजिए कुछ हमें। उस दिन आठ आनेका आटा लाये थे, वह भी खतम हो गया। अब क्या भूख हड़ताल करनी पड़ेगी यहाँ?"

मनपर बड़ी चोट पड़ी। सान्त्वनाके स्वरमें मैंने कहा, "नहीं भाई, भूख हड़ताल क्यों करनी पड़ेगी। मैं अभी कुछ इन्तजाम करता हूँ।"

यह जून १९३४ की बात है। तब 'विकास' साप्ताहिकको निकलते लगभग एक साल हो गया था। बाबूजी (श्री विश्वम्भरप्रसाद शर्मा, संचालक 'विकास'; वर्तमान सम्पादक – 'आलोक' नागपुर) किसी कामसे बम्बई गये थे और कार्यालयमें मैं अकेला ही था। ज्योति था हमारा चपरासी और उसे रुपयेकी जरूरत थी, पर मैं हूँ विकास-सम्पादक कि मेरे पास एक कानी कौड़ी भी न थी।

बहुत सोचकर मैंने बिलोंकी किताब उठायी। कई विज्ञापन-दाताओंसे रुपया अभी आना था। यों ही मैं जोड़ गया। १५७) शेष थे, पर इन्हें मैं क्या करूँ? मुझे तो इस समय ५) चाहिए और ये १५७) किसी दिन आनेवाले थे! मन जरा भारी हो गया। लेटकर सोचने लगा, क्या करूँ?

अचानक ध्यान आया। बम्बई जाते समय बाबूजीने कहा था, "कचहरीसे कोर्ट नोटिसोंके २५) वसूल करने हैं, कर लेना। बिल मैं भेज चुका हूँ। मनमें सोयी आशा जाग उठी। उठा, दूसरी बिल-बुक उठाकर देखी। सचमुच २५) लेने थे। ५) कलक्टरीसे और २०) दीवानीसे। चेहरेपर प्रसन्नताकी एक रेख-सी खिंच गयी। कपड़े पहने और कचहरी

चला। ताँगेके लिए पैसे न थे, पैदल पहुँचा, पर मनमें उल्लास था, शरीर-में स्फूर्ति – "लौटते समय जेबमें २५) होंगे। ठाटसे ताँगेमें बैठकर आऊँगा। सवारियाँ नहीं होंगी, तो पूरा ताँगा कर लूँगा, बात ही क्या है?"

कलक्टरीके नाज़िर साहब बैठे कागज उलट रहे थे। मेरी बात उन्होंने सुनी और ५) मेरे हवाले किये। मैं दीवानी पहुँचा। यहाँके नाज़िर साहब बड़े क़ानूनी आदमी निकले। बोले, "माफ कीजिए पण्डितजी, हमारे यहाँ बाबूजीका नाम दर्ज है, इसलिए रुपया तो उन्हींके दस्तख़तसे मिल सकता है।"

"मैं अभी कलक्टरीसे रुपये लाया हूँ। आप मुझे जानते ही हैं। बाबूजी बम्बई गये हैं, और उनके लौटनेका अभी कुछ पता नहीं।" मैंने कहा, तो बोले, "पण्डितजी, हरेक कचहरीके अपने क़ायदे हैं। मेरे लिए मजबूरी है, वरना फ़ौरन आपके हुक्मकी तामील करता।"

मैंने कहा, "कोई उपाय बताइए कि मुझे रुपये मिल सकें।" बोले, "आप बाबूजीको एक चिट्ठी मँगा दीजिए कि इन्हें रुपये दे दिये जायँ, बस मैं तुरन्त आपको रुपये दे दूँगा।" बातको समाप्त करते हुए बोले, "और कोई सेवा बताइए।" भला मैं और क्या सेवा बताता। फिर भी मैं प्रसन्न हो था कि पाँच मेरी जेबमें थे। आते ही बारह आनेका तार बाबूजीको दिया, एक रुपया ज्योतिको और सवा तीन श्रीमतीजीको!

चौथे दिन कार्यालयमें बैठा लेख देख रहा था कि श्रीमतीजीकी आवाज़ कानोंमें पड़ी, "घरमें न आटा है, न लकड़ी। त्योहारके रुपये लड़कोंको प्रयाग भेजने हैं। लाओ कुछ रुपये दो।" जेबमें एक भी पैसा न था। झुँझलाई-सी आवाजमें मुँहसे निकला, "कल तो दिये ही थे रुपये। आज फिर सिरपर सवार हो।"

"कल क्यों, कभी आज ही दिये हो! कई दिन हुए तीन रुपल्लियाँ

ही थी, वे व्यर्थ ही गयीं। अब रोज़ दौड़धूप करते रहते हैं, तो खर्च होता ही।"

"हजी, खर्च तो होता है, पर कहीं रास्ता हो भी!"

"नहीं है, तो रहने दो। कुछ धंधा ही देख लो बाबू," बोले।"
सुनकर वे भीतर जाने लगे। मैंने उन्हें रोकते हुए कहा, "देखो, मैं बाबूजीका इन्तज़ार कर रहा हूँ। बाबूजीकी चिट्ठी आ गयी, तो उसी दिन ही जाऊँगा। नहीं तो कोई इन्तज़ाम करूँगा।"

तभी पोस्टमैनने डाक लाकर रख दी। रोज़ पहले अखबारोंपर नज़र जाती थी, आज चिट्ठी देखी। बाबूजीका लिफ़ाफ़ा था। मौसा, बच्चों के साथ चिट्ठी थी। मैंने कहा, "लो तुम ठीक रहीं थीं। आ गया बाबूजीका पत्र। अब रास्ता ही रास्ता लो। ज़रा-सी देरमें उदास होने लगती हो।"

अखबार देखकर कचहरी गया। आज मामाकी बात नहीं, दिखाने-का दिन था — वह दिखाते ही रास्ता मिल जायेगा। नाज़िर साहब हमेशाकी भाँति बैठे काग़ज़ उलट रहे थे। ख़त देखकर बोले, "सब ठीक है। उस दिन पण्डितजी, आपको नागवार तो गुज़रा होगा, पर साऊ कोर्टका काम क़ायदेसे ही ठीक होता है।"

आवाजके स्वरमें मैंने कहा, "नहीं जी, इसमें नागवारकी क्या बात? यह तो कामदेकी बात है।"

"हमारे लिए भी बड़ी मजबूरी है पण्डितजी!" कहकर नाज़िरजीने चिट्ठी फ़ाइलमें रख दी। उत्सुकतासे मैंने पूछा, "तो क्या कुछ देर इन्त-ज़ार करनी पड़ेगी?" बोले, "ना पण्डितजी, आज तो यह काम न हो सकेगा। इस समय जज साहब एक ख़ूनके मुक़दमेमें मशग़ूल हैं। उसके बाद यह चिट्ठी पेश होगी और कलसे चार दिनकी छुट्टियाँ हैं, आप १४ तारीख़को तशरीफ़ लायें।"

जमीन मुझे घूमती दिखाई दी और नाज़िर यमराज। उसे मेरी दशा-का क्या पता! खोया सा अपने घर लौट आया। जो पथ जाते समय सम था, लौटते समय विषम हो गया था। यह संसार हमारी भावनाओंका ही तो रूप है।

घर पहुँचते ही देखा, श्रीमतीजी प्रतीक्षामें खड़ी किवाड़के पीछे झांक रही हैं। मुझे यह बात आज कुछ अच्छी न लगी। रुपया लाऊँगा, तो दे ही दूँगा। इस तरह भूत बनकर पीछे पड़नेकी क्या जरूरत? भीतर पैर रखते ही सवालकी तोप मेरे सामने थी, "ले आये रुपये?" मेरे सारे शरीरमें आग लग गयी। न मेरे स्वास्थ्यकी चिन्ता, न परेशानीकी। मरता-मरता अभी आकर खड़ा भी नहीं हुआ कि वही रुपयेका सवाल। सहृदयताका तो इस दुनियामें जैसे दिवाला निकल गया है।

कर्कश स्वरमें मेरे मुँहसे निकला, "तुम्हें सिवाय रुपयेके और भी कुछ पता है। जब देखो रुपया ही रुपया चिल्लाती रहती है बेवकूफ!" वह बेचारी अपना-सा मुँह लेकर भीतर चली गयी। मैं बाहर कार्यालयमें जा लेटा। निराशासे मेरा मन श्रान्त हो रहा था और सब प्रकारकी श्रान्तियोंका उपसंहार नींद है।

मुझे अभी झपकी आयी ही थी कि किसीके पैरोंकी आहटसे मैं चौंक उठा। मेरे एक मेहमान सामने खड़े थे। इस समय उनका आना मुझे बहुत बुरा लगा, पर बुरेको भला कह सकना ही तो सभ्यता है। कहना पड़ा, "आइए, बैठिए, कहिए आपको यहाँ कोई कष्ट तो नहीं हुआ?"

दाँत दिखाकर बोले, "अजी वाह, आपके राजमें और कष्ट? धर्मात्माओंके घरमें तो सदा स्वर्ग रहता है।"

मनने कहा, "जी हाँ, जीते जी ही स्वर्गका मजा आ रहा है।" जीभ-ने कहा, "यह सब आप-जैसे बुजुर्गोंकी कृपा है।"

"नहीं भाई, मुँहपर कहनेकी तो बड़ाई समझी जाती है, पर हम तो घर भी कहा करते हैं कि उन्होंने खूब नाम कमाया है, ओ हो, जब तुम

जेलसे आये, मैं यहीं था। दसों हजार आदमी रेलपर इकट्ठे हो गये थे और पब्लिकने फूलोंसे तुम्हारी गाड़ी भर दी थी।"

सभ्यताने मुझसे कहलवाया, "यह सब मित्रोंका प्रेम है जी, मैं भला किस लायक हूँ!"

"यह सब आपकी नम्रता है। बड़े आदमी अपने मुँहसे अपनी तारीफ़ नहीं किया करते। यह काम तो टुँपोंका है। आपकी तारीफ़ तो दुनिया करती है।"

मैंने समझ लिया कि इस सभ्यताके सहारे ये हारनेवाले नहीं हैं। तब बात बदलनेके भावसे कहा, "अच्छा यह बताइए कि आपकी और क्या सेवा की जाये?" हाथ जोड़कर बोले, "तुम्हारे इस सत्संगसे बड़ी खुशी हुई।" कोई भूली बात याद करते हुए-से बोले, "हाँ, आज रातको जा रहा हूँ मैं। घरपर 'वह' अकेली है।"

मनमें प्रश्न उठा, "तो घरपर वह अकेली न होतीं, तो शायद आप दो-चार साल टिकते।" पर मुँहसे निकला, "अजी ठहरो भी अभी, चले जाइएगा।" जरा घिघियाकर बोले, "फिर दर्शन करूँगा। हाँ, क्या बताऊँ, चलते समय कोट तो बदल लिया, पर बटुवा लेना भूल गया। मुझे चलते समय दो रुपयेकी जरूरत पड़ेगी।"

मेरा जी भुन गया। यह इतनी लम्बी भूमिका कम्बख्त इसलिए बाँध रहा था! सँभलकर मैंने कहा, "नहीं जी इसमें संकोचकी क्या बात? यह तो आपका घर है।"!

कहनेको तो यह कह दिया, पर भीतरसे प्राण सूख गये। अभी कल-की रोटियोंका प्रबन्ध तो हुआ ही नहीं, इस भूतकी बलिका प्रबन्ध कैसे करूँगा। चिन्तासे दिमाग भिन्ना उठा। वे दाँत दिखाते हुए चले गये। मैं क्षण-क्षण जीने-मरने लगा।

भ्रम सत्य बनकर उदय हुआ, उस दिन शायद पेटीमें मैंने एक नोट

रखा था। पेटी देखी, नोट नहीं था। होता ही कहाँसे, पर बैंककी चैक-बुक पड़ी थी। मैं बैंकके बारेमें कुछ भी न जानता था। झपटा हुआ बैंक पहुँचा। "क्यों साहब, 'विकास' के हिसाबमें-से मुझे कुछ रुपया मिल सकता है?" यह मेरा प्रश्न था। "जी नहीं रुपया पत्रका है और आप उसके सम्पादक हैं, पर नामसे बाबूजीके है, इसलिए रुपया उन्हींके दस्तखतोंसे निकल सकता है।" यह बाबूका उत्तर था। लौट आया, पर मनमें शान्ति कहाँ।

ठीक दो बजे हैं और रातमें आठ बजे मेहमानजी तशरीफ़ ले जायँगे। दो रुपये! कहाँसे दूँगा उन्हें? कलकी रोटीका प्रबन्ध नहीं, पर वह तो अपनी बात है। एक-दो दिन भूखा भी रहा जा सकता है, पर ये दो रुपये? इनका मैं क्या करूँ?

तर्कने सहारा दिया, इसमें परेशानीकी क्या बात है। कह देना अलमारीकी ताली नहीं मिलती, काम चले जाइएगा। मन कुछ हलका हुआ। मैं यों ही घबरा गया। मुझे यह ज़रा-सी बात न सूझी और दुनिया-भरके कुलाबे मिला गया। मैंने एक ठण्डी साँस ली, पर दूसरे ही क्षण एक स्मृतिने दिमागको हिला दिया। तुम रुपये न दोगे, वे महाशय यहीं ठहर जायँगे, पर यहाँ खायेंगे क्या? सारी शान मिट्टीमें मिल जायेगी। इन्हें साफ़ जवाब दे दूँ, पर फल तो उसका भी वही है। मैं रो पड़ा। जहाँ 'फ़ायर बिग्रेड' की पहुँच नहीं, वहाँ आँसूकी दो बूँदें काम कर जाती हैं। मन कुछ हलका हुआ। मैं उठकर कमरेमें घूमने लगा। सामने दीवार-पर एक सम्पन्न मित्रका फ़ोटो लगा था। इनसे पाँच रुपये क्यों न माँग लूँ? संकोच सामने आया, पर इसमें सकोचकी क्या बात? १४ तारीखको उनके रुपये वापस कर दूँगा। साहसने सहारा दिया, विवशताने प्रोत्साहन। चिट्ठी लिखकर रतनको दी। मनका भार हलका हुआ। बड़ी मुश्किलसे यह बला टली। मैं तो घबरा ही गया था। अब रतन पाँच लायेगा। दो

तो इन महाराजको दूँगा और तीन श्रीमतीजीको। परसोंको १४ है ही। २०) रुपये आयेंगे, ५) फ़ौरन उनके भेज दूँगा। संसारमें आदमीसे आदमीको दस दफा काम पड़ता है।

रतन अब आ ही रहा होगा। साइकिलकी घण्टी बजी, लो वह आ गया। बड़ा फुर्तीला है लड़का, मिनिटोंमें काम करता है, पर इसमें देरीकी बात ही क्या थी। गया, रुपये लिये और चला आया। रतनने एक लिफ़ाफ़ा मुझे दिया। लिफाफा! अरे रुपये कहाँ हैं? "कैसे रुपये?" ध्यान आया – मैं अधीरतामें कितना उतावला हो गया हूँ। भला, वे पाँच रुपये हाथमें देते, लिफाफेमें नोट भेजा होगा। यह है बड़प्पनकी बात। बड़े घरोंके लड़के भी बड़े ही होते हैं और फिर भैया तो एक आदर्श युवक है। कृतज्ञताके भावसे मैंने लिफ़ाफा खोला, पर इसमें नोट कहाँ है? यह तो केवल एक पत्र है। क्या रुपये नहीं दिये? यह अविश्वास! इन रईसों-में मनुष्यता तो है ही नहीं। पत्रमें लिखा है, "मेरी स्थिति तो आप जानते ही हैं और स्टेट एकाउण्टमें इस समय पाँच आने हैं।" भगवान् करें यह भी न रहें।

तो फिर? अरे जाने भी दो। इस तरह चिन्तामें तो हार्ट-फेल हो सकता है। नहीं है, तो न सही। मैं रुपयोंके लिए मर थोड़े ही जाऊँगा। घडीमें तीन बजे और महाशयजीकी छाया मेरे सामने आकर खड़ी हो गयी। "लाओ दो रुपये!" पाँच घण्टे बाद यह स्थिति आनेवाली है। इसे कैसे टालूँ मेरे भगवान्! कहीं चला जाऊँ। पीछे बेचारे रो-झींककर चले जायेंगे। बादमें क्षमा-प्रार्थनाकी एक चिट्ठी लिख दूँगा। यही ठीक है, पर कहाँ चला जाऊँ? बिना पैसेकी यात्राका उदाहरण है तो सामने। फिर मैं कहीं चला भी गया और ये महाशय जम गये यहीं, तो श्रीमती-जी क्या करेंगी? इस युगमें तो तारा बननेका भी धर्म नहीं है। फिर मैं क्या करूँ? घबरानेसे तो अक़्ल और भी बेठिकाने हो जाती है। शान्तिसे सोचूँ। अभी पाँच घण्टे हैं और कुल दो रुपयेकी बात। इतना बड़ा शहर

हैं, क्या मुझे दो रुपये भी नहीं मिल सकते ! अच्छा तो किससे प्रार्थना करूँ ? रणवीर बाबू ! अजी वे बड़े मुरदे हैं। याद आ गया, बाबू कृष्णलालसे मँगवाये लेता हूँ, पर क्या कहेंगे वे कि इनके पास पाँच रुपये भी नहीं ! फिर अपने सिरसे इस भूतको कैसे टालूँ ? वाह, खूब याद आया।

"अरे रतन, ले यह खत ज़रा पण्डितजीके पास ले जा।" रतन चला गया। बचपनके साथी हैं। साथ खेले, साथ पढ़े और राष्ट्रीय आन्दोलनमें साथ ही जेल गये। उन्हें तो आज अभिमान होगा कि मेरे मित्रने मुझे निःसंकोच याद किया। बड़े भावुक हैं। साथमें एक पत्र अवश्य लिखेंगे। सम्भव है उसमें कोई पद्य लिख मारें। खूब लिखते हैं। यहाँका वातावरण साहित्यिक नहीं, नहीं तो अबतक उनकी रचनाएँ कभीकी रंग ले आतीं। पर अगर वे घरपर न हों ! कामदार आदमी हैं। हजार जगह याद रहती है ऐसे आदमियोंकी। तब तो बड़ी परेशानी होगी। रतनसे यह भी न कह दिया कि घर पूछ ले कि कहाँ गये हैं और वहीं चला जाये। यह बड़ी गलती हुई। परेशानीमें सचमुच अक्ल मारी जाती है। वैसे एक तरहसे यह न कहना ही अच्छा हुआ। चार आदमियोंमें बैठे हुए वे क्या सोचते, बड़ा असभ्य आदमी है !

साढ़े तीन बज गये। दीन बाहरसे निकाले एक मनुष्य, दीनता और याचकी मुद्रा और दुर्वासाके अभिशाप-सी वही ध्वनि — "लाओ भाई, वे दो रुपये दे दो। गाड़ीका समय हो गया। अब जा रहा हूँ, फिर दर्शन करूँगा।" ऋषियोंकी प्रार्थनापर दुर्वासा भी पिघल गये थे और अभिशापको उन्होंने सरल कर दिया था, पर यहाँ पसीजनेकी गुंजाइश नहीं — "लाओ दो रुपये या आज ठहरूँ ?" मैं क्या चुनाव करूँ ? 'कुआँ और खाईं' की उपमा भी नहीं पटती। उसके पैरोंके नीचे तो साफ़ ज़मीन होगी। वह बीचमें अपनी जगह खड़ा होकर प्रतीक्षा तो कर सकता होगा, पर मैं कहाँ खड़ा हूँ ? यहाँ टिक-टिककर समयके सरकनेकी सूचना दे

रही है। यह लो, सुई चारके पास पहुँच रही है। कहीं घड़ी तेज तो नहीं है, पर होगी भी तो कितनी, दस मिनिट, बीस मिनिट, आध घण्टा। फिर इससे मुझे क्या सन्तोष !

मैं कितना मूर्ख हूँ, चिन्तामें घुला जा रहा हूँ। पण्डितजी क्या इन-कार कर देंगे। वे कोई रईस नहीं हैं, जो हृदयहीन हों। और फिर बनिया बनिया, ब्राह्मण ब्राह्मण। आर्यसमाज कितने ही लैक्चर दे, जन्मके संस्कार कहीं जा सकते हैं ? रतन अभीतक नहीं आया। सम्भव है कहीं गये हों या श्रीमतीजी न हों और ताली उनके पास हो। हिन्दुस्तानी औरतोंको भी ताली गलेमें बाँधे रखनेकी एक बीमारी है। अरे, एक खूँटी निपट है या ताक, ताली वहाँ रखी है, जिसे जरूरत हो, ले ले, पर नहीं, ताली जबतक गलेमें न बाँधी जाये, चैन ही नहीं पड़ती ! तागा रसोईघरके जनेऊ-की तरह गन्दा और एक बदसूरत-सी ताली, पर वह इनके लिए सौभाग्य-चिह्नसे भी अधिक प्रिय है। मूर्ख हैं और क्या ?

यह भी सम्भव है कि रुपये न देनेपर ही अड़ रही हों — "रोज तुम्हारे यार-दोस्त ही खड़े रहते हैं। पाँच-सात रुपये पड़े हैं, उन्हें भी दे दो और हो जाओ फकीर।" रुपयेका इस क़दर मोह है कि हद नहीं। देशका दुर्भाग्य है कि उसका आधा भाग एक दम बुद्धू है।

आज यह घड़ी फूट क्यों नहीं जाती ! कम्बख्त दौड़ी जा रही है, जैसे रेलमें महाशयजीकी जगह इसे ही बैठना हो। अभी देखा, तो साढ़े तीन बजे थे, यह चार भी बज गये। इस घड़ीको बेच क्यों न दूँ। शैतानने परेशान कर दिया आज। इसका भी पाप कट जायेगा और मेरा भी, पर घड़ी तो दफ्तरकी है। बाबूजी आकर क्या कहेंगे। तो और क्या बेच दूँ ? मेरे पास एक अँगूठी थी, उसे मुन्नीने खो दिया, पर मुन्नी बेचारीका क्या दोष ? उसे वह दी ही क्यों गयी ? वह तो बालक है, उसे चीजकी क़ीमतका क्या पता ? बड़ी लापरवाह औरत है। इस सारे झंझटसे बच जाता। जाता और चुपके-से बेच आता। चीज और है ही किस वक्तके

लिए ? पासमें चीज होते, परेशान होना मूर्खता है, पर जब वह है ही नहीं, तो उसपर विचार करनेसे लाभ ?

अच्छा, कोई पुस्तक क्यों न बेच दूँ ? अलमारी भरी पड़ी है। तीन-चार बेच दूँ, सो ५) मिल जायेंगे। उठकर सब पुस्तकें उलटी-पलटीं। सबपर 'समालोचनार्थ' लिखा है या 'सप्रेम भेंट' ! भला, हमारे यहाँ पुस्तकें भेजी ही जाती हैं आलोचनाके लिए। मूर्ख हैं कम्बख्त खुद और समझते हैं सम्पादकोंको ! कईने तो 'समालोचनार्थ' की मुहरें बनवा रखी हैं, जैसे यह भी कोई फैशन हो। 'सप्रेम भेंट' ! यह क्या है जी ! भला 'दानार्थ' अपने मित्रोंको कौन अपनी पुस्तक भेंट करेगा ! तो ये सब पुस्तकें तो बेकार हैं। इन्हें बेचने जाना अपनी पगड़ी बाजारमें अपने हाथों उछालना है। फिर क्या करूँ ? बड़ी आफ़तमें जान आयी आज ! घण्टी बजी, लो रतन आ गया। मैं भी आज सनकी हो गया हूँ। रतन वहींसे लौटा नहीं और मैंने कई नक़्शे बना-बिगाड़ भी दिये। मनुष्यका यह दिमाग भी क्या बला है !

रतनने परचा मेरे हाथमें दिया। बस सिर्फ़ परचा ही ! चढ़ गया उन्हें भी बुखार – "बन्धु ! इस समय व्यस्त हूँ। घर श्रीमतीजीसे पूछकर कुछ उत्तर दे सकता हूँ।" यह व्यस्तता अच्छी रही। किससे आशा की जाये। मित्रता तो जैसे समुद्रमें डूब गयी। देखनेमें कुन्दन""। बाबू कुन्दन सिंह वकीलसे ५) क्यों न मँगा लूँ ? बड़े सहृदय हैं। जहाँ मिलते हैं, हरे हो जाते हैं। सदैव मेरी देश-सेवाओंकी प्रशंसा किया करते हैं। अँगरेजी-शिक्षितोंमें ऐसी सादगी विरल है। यह नाम पहले क्यों न याद आया।

"रतन, ले इस खतका जवाब तो ले-आ जरा।" स्वरमें मेरे उल्लास था, उरमें उमंग। आखिरी वक़्तमें खब नाम याद आया। घर पास ही था, रतन झट लौट आया। यह है सज्जनता, फ़िजूल मग़ज़पच्चीसे क्या फ़ायदा। कामकी दो बातें की और अलग। आजकल बहुत कम लोगोंमें

पर बात है। रतन गुम होता आ रहा है। दिन-भरकी मेहनत वसूल हो गयी बेचारेकी। आज इसे जलेबी खिलाऊँगा। एक रुपया मुन जायेगा और दो भुननायकी भेंट! बाक़ीके लिए श्रीमतीजी हैं ही। प्रोग्राम पूरा था। चलो जान बची, किस चक्करपर चढ़ गया था आज।

"बाबूजी लेट रहे थे।" रतनने प्रसन्नतासे कहा। कचहरीसे आये होंगे अभी। थक जाते हैं बेचारे। अनपढ़ लोग समझते हैं कि ये शहरके बाबू दोनों समय मुफ़्तकी तोड़ते हैं। इन मोंदुओंको भला क्या पता कि एक ही वहसमें नस-नसका कचूमर निकल जाता है।

"उन्होंने कहा है····" मेरा माथा ठनका "कहा है" क्या मतलब? क्या रुपये नहीं दिये? "·····कि इस समय मुन्शीजी नहीं हैं, वे आ जायें, तो रुपये मैं फ़ौरन भेज दूँगा।" मुन्शीजी हैं या ख़ज़ांची? मुझे किसी मुक़दमेकी मिस्ल थोड़े ही देखनी है, जो मुन्शीजीके बस्तेमें हो। भला इतना बड़ा वकील, उसके घरमें पाँच रुपये नहीं। अगर उसके लड़केको हैजा हो जाये, तो क्या मुन्शीजी ही आकर डॉक्टर बुलायेंगे। कैसे मनुष्य हैं ये लोग। झूठ बोलते-बोलते झूठ इनकी आत्मामें रम गया है। क्या घुट्टी दी है पट्ठेने! लोगोंको लड़ाते-लड़ाते इन वकीलोंका हृदय पत्थर हो जाता है और मक्कारी तो इनकी अन्नपूर्णा ही है। ऊपरसे देखो तो शिष्टाचारके पुतले पर भीतरसे पूरे पशु। भगवान् दुश्मनको भी न फँसाये इनके चक्कर में! ठीक है दुश्मनको भी न फँसाये, पर मैं तो फँस रहा हूँ। मैं कैसे निकलूँ इस चक्करसे।

यह लो, साढ़े पाँच भी बज गये। इस घड़ीको बन्द कर दूँ, तो कुछ देर दिमाग़को चैन मिले। लो यह देखो, इस घड़ीमें, पटककर तोड़ डालनेके सिवा इसे बन्द करनेका कोई तरीक़ा ही नहीं रखा। अलार्मपर तो रिपीट, कण्टीन्यू और साइलेण्टके तीन-तीन बिल्ले चिपका दिये, पर घड़ीको बन्द करनेकी बात ही कारीगरके दिमाग़में नहीं आयी। जैसे इसे बन्द करनेकी कभी किसीको ज़रूरत ही न पड़ेगी। अरे, सौ बातें हैं। आदमी

बीमार है। टिक-टिक बुरी लगती है। क्या करे। हो जायें यह परेशान, पर घड़ी बन्द नहीं हो सकती।

ज्यादा बुरा लगे, तो उठाकर बाहर बरामदेमें रख दो। चोर ले जाये, घड़ी बनानेवालेको बनाये। उसकी तो एक और बिक जायेगी, पर चोर ही कैसे ले जाये? रास्ते-भर टिक-टिक करके वह सुखिया पुलिसका काम करती रहेगी। घड़ी चुप हो, तो आदमी उसे अपनी चादरमें ही लपेट ले। किसीको क्या पता, कोई क्या लिये जा रहा है। हर चौकपर सिपाही खड़ा रहता है, पर खड़ा रहे। दुनिया अपना-अपना सामान लिये जा रही है। यही क्या कोई नयी बात है? उसे क्या पता, चादरमें क्या है? होगा कोई बीमीका पूत और प्यारा होगा यह बेचारा अपने सेर पुलिस ठेकेदार हैं दुनियाकी, पर घड़ी, बोल जो रही है। चोरको भी चौकन्ना होकर चलना पड़ता है और इधर-उधर आँख फेरना ही चोरकी पोल है। सिपाहीको फौरन शक हो जाता है – "क्या लिये जाता है बे, यह रातमें!" एक कड़कदार आवाज और चोरकी होश गुम। "टी....ई ई....ई...." एक लम्बी विसिल और चोर गिरफ्तार। चलो भाई जेलखाना।

जेलखाना पूरा नरक है। मैं तो आजकी ही लड़ाईमें खूब देख आया हूँ, पूरा नरक है। मनुष्य अपने भुलेपन स्वभावके कारण वहाँ भी हँसता है, गाता है, पर यह तो मनुष्यके स्वभावकी एक विशेषता है। और विशेषता न हो, तो वह क्या करे। रो-रोकर मर जायें बेचारे! वहाँ चीरज दिलानेवाली तो थोड़े ही बैठी हैं, जो पुचकार कर रोटी खिला देगी। शासका नाम लो, राष्ट्रमतावा तो यहाँके अधिकारियोंमें नाम नहीं। दो पैरके जानवर कर्माहाए आप जाइये। कैदियोंमें ऐसे भी हैं, जो अपनी रोटी दूसरेको दे दें, पर कैदी कैदी हैं, अफसर अफसर। मेरा बस चले, तो एक महीनेके लिए कैदियोंको अफसर और अफसरोंको कैदी बना दूँ। पट्ठोंको नानी मर जाये और तब जानें कि कैद किसे कहते हैं?

लोग कहते हैं विज्ञान बड़ी उन्नति कर रहा है। अब कोई पूछे

उनसे कि विज्ञानने क्या उन्नति की कि घड़ी तो बनाकर रख दी, पर वह सिर्फ चल सकती है, बन्द हो ही नहीं सकती ! अभिमन्युकी तरह व्यूहमें घुस तो जाओ तुम और निकालेगी मौत ! सूझ नहीं है कम्बख्तोंमें और क्या ? भला घड़ी बन्द हो सकती, तो यह क्यों पकड़ा जाता बेचारा ! "वह चोर था और उसका पकड़ा जाना ही ठीक है।" हाँ साहब, वह चोर था और उसका पकड़ा जाना ही ठीक है, पर उसे चोर बनाया किसने ? किसी दिन वह भी भला आदमी होगा, ज़रूर होगा जी, पर आज वह चोर है। इसका उत्तरदायित्व किसपर है ? इसका उत्तरदायित्व समाजकी उस व्यवस्थापर है, जिसने उसे चोरीके लिए मजबूर किया। दुनियामें कोई आदमी खुशीसे चोर नहीं बनना चाहता। चोरी राजनीतिकी लीडरी नहीं और न रायबहादुरीका खिताब है कि उसके लिए कोई उत्कण्ठित हो। सारे समाजका धन चूसकर कुछ लोग धनपति बन बैठे हैं। मेरी रोटी तुम हड़प जाओ। अब मैं उसे माँगूँ, तो भिखारी और ले लूँ तो चोर। धर्मशास्त्रने घोषणा की कि चोर दण्डनीय है और न्यायके नामपर जेलखाने खुले। न्याय क्या अन्याय है यह !

बेचारेके सुकुमार बच्चे भूखसे बिलबिला रहे होंगे और फटे-से कपड़े पहने उसकी घरवाली प्रतीक्षा कर रही होगी, पर जब उसे पता चलेगा कि इस बच्चोंका बाप पकड़ा गया और गया जेल एक सालको, तो बेचारीकी दुनिया घूम जायेगी। वह जेलमें पीसेगा चक्की और खायेगा घुड़कियाँ उस जेलरकी, जिसकी सूरत और वेष तो आदमीका है, पर भीतरसे जो आदमियतसे लाखों कोस दूर है।

मैं भी कैसा भावुक हूँ। बिना किसी नीवके घर बना डालता हूँ। चोरकी बातें सोचता रहा, पर मेरी हालत तो इस समय उस चोरसे भी बुरी है। उसे रोटियोंकी तो फिक्र नहीं है, उसके घर कोई मेहमान तो आकर न ठहरता होगा और मेहमान भी ऐसा कि मरे न माँझा ले !

छह बज गये। जेलखाना भी छह बजे ही बन्द होने लगता है।

घरमें बैठा बेचारा अपनी स्त्रीको मार करके रोता होगा। वह तो रो-पीट कर अपने दिन काट ही लेगा, पर यह बेचारी क्या करे? मेहनत-मजूरी करेगी और क्या, पर जवान औरतका मजदूरी करना भी एक आफ़त है। मजदूरी करती, जो मालिकके हाथ अपनी आबरू बेचे। नहीं तो रात-दिन गाली खाये—हर तरह अपमानित हो। मशीनोंका जाल बेचारी पार भी कर जाये, तो चौबीसों घण्टेके अपमानको कैसे पिये! पति जेलमें पड़ा है और बच्चे भूखे हैं। मालिक या ठेकेदार हर समय पीछे पड़े रहते हैं। एक क्षण खुशामदका आता है और दूसरा गालियोंका! “बरतनोंमें मिट्टी लगी रहती है”। “आवाज सुनती ही नहीं” “हरामकी तनख्वाह लेना चाहती है”। वह क्या करे। बच्चोंको भूखा मर जाने दे, आप भी मर जाये या आपा लुट जाने दे। एक तरफ़ मातृत्व है, एक तरफ़ स्त्रीत्व। दोनों प्यारे। फिर यह घाटी कैसे पार हो?

एक लाल कागज ऊपरके तल्लेसे उड़कर मुझपर आ पड़ा। काश, यह नोट होता! उठाकर पढ़ने लगा। युवक-संघके पिछले उत्सवका नोटिस था। नीचे मन्त्रीके रूपमें मेरा और सभापतिके रूपमें श्री रामप्रतापका नाम था। बड़े होनहार युवक हैं। धन-सम्पन्न हैं और शिक्षित भी। अबसे संघमें आये, जान डाल दी। जब मिलते हैं, तो लिपट जाते हैं। उस दिन उत्सवमें मेरी तारीफ़ोंके पुल बाँध दिये। बड़े ही मिलनसार हैं। इनसे ही पाँच रुपये क्यों न मँगा लूँ। सारी बला टल जायेगी। घर भी पास ही है। रतन जायेगा और आ जायेगा।

ले रतन, यह एक चिट्ठी और है। देख आँधीकी तरह जाना और तूफ़ानकी तरह आना। चिट्ठीमें लिखा था—“भाई, बीमारीसे अभी उठा हूँ, शरीर बहुत कमजोर है। बाबूजी बम्बई गये हैं। इसी समय पाँच रुपयेकी जरूरत है। अन्तिम आशाके रूपमें आपको कष्ट दे रहा हूँ। १४ ता० को यह रुपये वापस कर दूँगा।” यों ही पत्र लिखा। इसकी क्या जरूरत थी? वैसे ही रतन जाता और रुपये लेकर लौट आता। पाँच

रुपयेके लिए क्या चिट्ठी-पत्री ! यह तो समयकी ही बात थी कि आज यों परेशान होना पड़ा। नहीं तो अभिमानकी बात नहीं, पाँच-पाँच रुपये तो कई बार अपरिचितोंके लिए, केवल मनुष्यताकी पुकारपर खड़े-खड़े खर्च कर दिये हैं।

स्टेशनपर उस दिन वे कितने परेशान थे। उनका बटुआ खो गया और वे संकोचमें डूबे इधर-उधर अपनी करुण-दृष्टि घुमा रहे थे। स्वयं पूछकर उनकी स्थितिका पता लगाया और चुपकेसे पाँचका नोट उन्हें भेंट कर दिया। अपनी-अपनी आदत; संकोचवश उनके घरका पता भी नहीं पूछा। क्या कहेंगे बेचारे ! पाँच रुपल्लीके लिए पता पूछ रहा है ! कुछ बात भी हो पाँच रुपयेकी ! कई बार सज्जनता और दानताकी आड़में ठगा भी गया हूँ, पर धोखा कहाँ नहीं है। दुरुपयोग किस चीज़का नहीं हुआ ? कपटी संसारने परमात्माकी चौपड़ बिछानेमें भी देरी नहीं की।

पर एक बात है, पत्र लिखना भी अच्छा ही हुआ। शामका समय है, चार मित्र बैठे होंगे। रतन जाकर कहता, सबको खबर होती। पता नहीं कौन कैसा आदमी बैठा है। किसीके सामने क्या बात कहनी है, क्या नहीं, कहाँकी बात कहाँ जा पड़े ! प्राइवेट बातोंके लिए सदा पत्र लिखना ही ठीक होता है। मेहमान साहब कहीं घूमने गये हैं। आते ही होंगे। दो रुपये देकर उन्हें विदा करूँगा। भला इन्हें सूझी थी क्या कि लाठी उठायी और चल दिये। चाहिए तो यह कि चार पैसे ज्यादा लेकर आदमी दहलीज लाँघे, पर इतना न हो, तो आदमीको अपना रास्ता तो दिखाई देता ही है। कैसी-कैसी खोपड़ीके आदमी हैं इस दुनियामें। दुनिया क्या पूरा अजायबघर है यह !

लोग यों ही अजायबघर देखते-फिरते हैं। अजायबघरोंका अजायबघर तो यह दुनिया है। देखे जाओ और खतम हो न हो। उन नक़ली अजायबघरोंमें क्या रखा है ? कुछ मूर्तियाँ, कुछ सिक्के, पुराने पत्थर, कुछ काग़ज़ोंके बस्ते और जानवर ! पिंजरेमें बन्द उन शेरोंको देखकर मेरा तो

दिल रो पड़ता है, पर ऐसे भी लोग हैं, जो जंगलोंके सींखचोंमें पलती-सी छड़ी उसको आँखोंमें देकर मज़ा लेते हैं। यह शेर कहीं जंगलमें दौड़ पड़े तो बाबूजीकी तबीयत हरी हो जाये, पर सच है कि जंगलमें शेर शेर है, जंगलेमें तमाशा और तमाशा भी मामूली ! ओह, जंगलका शेर ! यमदूत-का भानजा है, पर यह आदमी भी कैसा भूत है कि शेरको भी पकड़कर पिंजरेमें बन्द कर देता है। जंगलमें जिसे देखनेके लिए जानकी बाज़ी लगानी पड़े, वह यहाँ तीलीके पार टुकड़ोंमें दीख सकता है और इतने पासमें कि चाहो तो बेचारेके नाकको उँगलीसे छू दो।

क्यों जी, समझ तो इन जानवरोंमें भी होती होगी और इन्हें भी हमारी ही तरह अपनी पुरानी बातें याद आती होंगी। जंगलका राज्य, दिल दहलानेवाली दहाड़ और ऊँची उछल-कूद ! याद कर बेचारा रो पड़ता होगा। कितनी दयनीय है इसकी दशा – बिगड़े हुए रईससे भी ज्यादा करुणाजनक ! कहाँ मीलोंका जंगल, कहाँ यहाँ दस फीटका जंगला या गुफा ! कितना हृदयहीन काम है यह ? मुझे कभी कोई गवर्नर बना दे, तो इसे फौरन जंगलमें छुड़वा दूँ और अजायबघरोंमें शेरका रखना और सरकसोंमें उनका खेल दिखाना सदाके लिए बन्द कर दूँ ! मुझे तो रोना आता है इनकी दशा देखकर। बिलकुल लुट गया है बेचारा ! अपने अच्छे दिन भूला नहीं है। उन्हें भूलता ही कौन है ? यह टाल्स्टायकी कहानीका इलियास थोड़े ही है। रात-दिन भीतर-ही-भीतर रोता होगा बेचारा ! मेरा वश चले तो इसे आज ही छोड़ दूँ।

पर अब यह जंगलमें जाकर क्या करेगा ? वहाँ अब यह जी ही नहीं सकता। जंगली शेर इसे एक मिनिटमें उधेड़ डालेंगे, यहाँ जीवित तो है। याद नहीं, उस बार आत्मारामसे कहकर मैंने उसका वह पालतू बन्दर छुड़वा दिया था। तीन दिन बाद जब वह लौटा, तो लहू-लुहान हो रहा था। लौटनेपर भी जब उसे आत्मारामने नहीं बाँधा, तो वह अपनी जंजीर-को हाथसे पकड़कर बैठ गया। मैंने अपने जीवनमें इससे अधिक मर्मवेधी

दृश्य नही देखा। लोग तो तब भी हँस रहे थे, पर मैं बिना रोये न रह सका था। सचमुच बन्धन जीवनके ओजको समाप्त कर देता है। जीवनकी स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है और अस्वाभाविकतामें ही जीवन दिखाई देने लगता है। पर गुलामी और गुलामके प्रति इन पशुओंमें कितना विद्रोह, कितनी घृणा है। हमारे समाजमें तो आज भी रायबहादुरों और खानबहादुरों, राजाओं और नवाबोंको 'बड़ा आदमी' माना जाता है, उन्हें ऊँचा स्थान दिया जाता है। ये लोग गुलामीके संरक्षक हैं और क्या? काश, हमारा समाज भी इनके साथ वही व्यवहार करता, जो उन स्वतन्त्र बन्दरोंने उस गुलाम बन्दरके साथ किया था!

भीतरके कमरेकी घडीने आवाज दी — टन! साढे छह बज गये! मेरे हृदयमें घण्टेकी आवाज धकसे लगी। रघुकी छातीमें इन्द्रका वज्र भी इतने जोरसे न लगा होगा। रतन अभीतक नही आया। आता ही होगा। उत्साह-में आदमी कितना उतावला हो जाता है! रतन जेबमें डालकर ला रहा होगा पाँच रुपये! हाथमें लिये हुए ही न आ रहा हो? रुपयेको जगह भला हाथ है या जेब? कोरा मूर्ख है, इसे कभी तमीज ही न आयेगी। कहीं गिर जायें, तो इसके बापका क्या बिगडेगा? दिन-भर दौडकर बेचारे-के हाथमें ये पाँच रुपये आये हैं। उत्साहसे मुट्ठीमें दबाये दौडा आ रहा होगा। उत्साहमें भी आदमी पागल हो जाता है।

रतन आ गया। वाह! हाथ तो दोनों खाली हैं उसके। सावधानीसे जेबमें डालकर लाया है। अब शहरमें रहकर होशियार हो गया है। जब गाँवसे आया, पूरा बुद्दम था। न कपड़े-लत्तेकी तमीज, न बातोंका ढंग, पूरा बोदमचन्द, पर अब देखो, उड़ती चिडियोंके पर कतरता है।

"उन्होंने आपको नमस्ते कहा है....." बड़े सज्जन आदमी हैं। जब मिलते हैं खुद नमस्ते करते हैं। रुपये देते समय भी यह बात नहीं भूले। मैंने भी उनसे क्या पाँच रुपये मँगाये। कमसे कम दस मँगाता। ११ तारीखको तो भेज ही देते थे!

"....और कहा है जो, हमें बड़ा अफसोस है कि उनकी बीमारीका हमें पता ही नहीं लगा। घरपर अकेले थे। बड़ी तकलीफ हुई होगी। नाराज हो रहे थे कि उन्होंने यह तकल्लुफ क्यों किया ?" कितने सहृदय हैं। खबर हो जाती, तो फौरन आते। अपनेपनकी यह बात है। दुःखमें ही अपना-बेगाना दीखता है।

"रुपयोंके बारेमें उन्होंने कहा है कि सुबहको हम उधर आयेंगे। उस समय उनकी जो आज्ञा होगी, पालन करेंगे!" मैं आसमानसे एकदम जमीनपर आ गिरा। 'सुबहको हम आयेंगे!' भला, मुझे क्या आपकी बिना जोड़नी है यहाँ। पता नहीं इन लोगोंकी खोपड़ीमें अक्लकी जगह गोबर भरा है या फूस। चिट्ठीमें साफ लिखा था कि इसी समय पाँच रुपये चाहिए, पर आप कहते हैं कल वहीं आकर आज्ञाका पालन करेंगे। यह तो सुना था कि रुपयेवालोंके दिल नहीं होता, पर आज पता चला कि आँखोंकी जगह भी इनके बटन होते हैं। कोई पूछे इस अहमकसे कि कल सुबह यहाँ आकर क्या वह मेरे सिरपर चढ़ेगा ?

"पिताजी, मेरी तसवीर जोड़ दो!" ईश्वरी आकर अपनी तसवीर मुझे दे गयी। भक्त प्रह्लाद हाथ जोड़े सामने खड़ा है और भगवान् नृसिंह तपते खम्भेसे प्रकट होकर हिरण्यकशिपुका संहार कर रहे हैं। भगवान् थोड़ी-सी देर और करते, तो प्रह्लादका काम तमाम हो जाता! क्यों जी, भगवान्‌को यह क्या बुरी आदत है कि अँगरेजी टाइमकी तरह आखिरी घड़ीमें ही जागते हैं? बड़े कठोर परीक्षक हैं। अधिकसे अधिक देर तक भक्तके विश्वासकी परीक्षा किया करते हैं।

टाल्स्टायने अपनी एक कहानीका शीर्षक रखा है — 'भगवान् देखते हैं, पर प्रतीक्षा करते हैं।' है यही बात। 'भगवान्‌के घर देर है अन्धेर नहीं'। ठीक ही है, भगवान्‌के घर भी अन्धेर हो जाये, तो फिर प्रकाश कहाँ रहे? कैसे आड़े समयमें प्रह्लादकी रक्षा की। सचमुच इन उदाहरणोंपर ही जनतामें आस्तिकताकी भावना जीवित है।

नास्तिक और प्रगतिवादी कहते हैं, ये सब आलंकारिक वर्णन हैं, यह भी कि कोरी गप्पें हैं। ईश्वर कहीं बैठा है जो मददगार आ जुटेगा? बैठा हो या न बैठा हो, पर कल्पना तो है ही। अच्छा, यह कोरा ढोंग ही सही, दुखियोंका एक सहारा तो है; प्रगतिवादी दुःख और निराशाकी जिन घड़ियोंमें आत्महत्या कर लेता है, ईश्वरविश्वासी परमात्माकी शक्ति और आशाके सहारे उन घड़ियोंमें भी सन्तोष धारण कर पाता है, यह क्या कोई साधारण बात है?

इन शिक्षितोंके लिए और कुछ काम तो रहा नहीं, ईश्वरपर ही चढ़ाई कर बैठे — ये भी पूँजीपतियोंके ही भाई-बन्धु हैं। गरीबोंका सारा सुख लूट लिया इन मोटी तोंदवालोंने, एक ईश्वरका सहारा शेष है, उसे ये दार्शनिक छीनना चाहते हैं। अभागे गरीबोंके अन्धे जीवनकी यह लकड़ी — सन्तोषका अन्तिम सहारा भी इन्हें सह्य नहीं। गरीब बेचारा कहाँ जा मरे? उसे कुछ तो सहारा चाहिए ही, पर इन्हें तो अपनी दार्शनिकतासे मतलब। कम्बख्त कहते हैं और समझते भी हैं कि विश्वके ज्ञानकोषमें एक नया दान दे रहे हैं। जी हाँ, बिलकुल नया दान है, पर है जहरकी पुड़िया।

ये आजके वैज्ञानिक भी तो बड़े दानी हैं। भयंकर शस्त्र, घातक गैस, हत्यारे तारपीडो, अनेक प्रकारके बम। कितने सुन्दर उपहार हैं ये! शैतान अपनेको विश्वके सेवकोंमें शुमार करते हैं, पर लन्दन दस घण्टेमें कैसे उजड़ सकता है, न्यूयार्कपर मारक गैस बरसाकर उसे एकदम कैसे बरबाद किया जायेगा, बर्लिन और पेरिस एक साथ कैसे उजाड़े जा सकते हैं, टोकियोपर बम बरसाना कहाँसे ठीक रहेगा, ये इनकी विश्व-सेवाके नमूने हैं और इस प्रकार ये रात-दिन निरपराध गरीब जनताको उजाड़नेकी चिन्तामें घुला करते हैं, पर बमसे क्षत-विक्षत होकर भी एक गरीब ग्रामीण परमात्माके जिस सहारेपर, शान्तिसे मर सकता है, उसे ये दार्शनिक समेटे ले रहे हैं। उस गरीबकी वे आखिरी घड़ियाँ भी शान्तिसे क्यों कटें?

अरे भाई, तुम्हारा हो कहना ठीक सही, तुम वाकई हवाई जहाजमें बैठकर गुदावा घर देख आये हो और वाकई वह उजड़ा पड़ा है, वहाँ कोई नहीं रहता, यह सब कोरा ढोंग है, पर यह ढोंग कितने गरीबोंका जीवन-प्राण है, इसे भी तो सोचो। बन्दरिया अपने मरे बच्चेको छातीसे चिपटाये घूम रही है। दार्शनिककी दृष्टिमें यह अज्ञान है, पर यह अज्ञान ही उस अभागी माताके हृदयका एक-मात्र सहारा है। हो, तुम्हें संसारके दुःखियोंसे क्या मतलब, तुम्हें तो दर्शन और विज्ञानका सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार मिलना चाहिए। कितने धूर्त हैं ये लोग!

गरीबका भगवान्‌के सिवा और कौन है? भगवान् ही गरीबकी खबर लेते हैं और अवश्य लेते हैं, पर एँ! मैं भी तो गरीब हूँ, दुःखित हूँ। इतनी बेचैनी तो उस खम्भेको देखकर प्रह्लादको भी न हुई होगी। सुबहसे कितना परेशान हो रहा हूँ, प्राण कण्ठमें आ गये हैं, पर भगवान् कहाँ हैं? क्या यह सब वाकई एक ढोंग ही है। ये प्रत्यक्षवादी लोग कुछ मूर्ख थोड़े ही हैं। आखिर ये लोग भी तो कुछ सोचकर ही परमात्माके अस्तित्व-से इनकार करते हैं। बड़े विद्वान् हैं ये लोग तो! फिर परमात्मा है और ये लोग उसे माननेसे इनकार करते हैं, तो इन्हें प्लेग क्यों नहीं हो जाती? यह ईश्वर-वीश्वर सब कोरी भावुकता है, पर हाँ, एक बात है। प्रह्लादको तो परमात्मामें अखण्ड विश्वास था — वह तो उसके भरोसे आगमें लिपटने-को तैयार था। मैंने तो आज उसका ध्यान भी नहीं किया। उससे मैंने *प्रार्थना ही कब की? मैं तो दिन-भर अपने ही बलपर दौड़ता रहा हूँ।* जो सड़कपर सीधा चल रहा है, उसे कौन सहारा देगा? लो मैं भी नास्तिक ही रहा था। धिक्कार है मुझे। आँखें बन्द हो गयीं, मस्तक झुक गया, गला भर आया, पलकें भीग गयीं। व्यथाके भीगे स्वरमें मेरा मन पुकार उठा — मेरे प्रभु, मेरी रक्षा करो। आँसूकी शक्ति अपार है। मन कुछ शान्त हुआ, मैं अपनी *गद्दीपर पीछेकी ओर लुढ़क गया। तभी* बजे सात!

मोतकी घड़ी सिरपर आ गयी। अब क्या होगा मेरे भगवान्? हां, तुम जानो, मान हो या अपमान। तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो मेरे नाथ!

"खटर-खटर-खट"। मैंने आँख उठाकर देखा हजरत जूता निकाल रहे हैं। कागजोंसे लैस और छोटी-सी पोटली हाथमें। जानेको एक दम तैयार, ठीक अँगरेजी टाइमपर आप आये हैं, जैसे बैंकसे चैक भुनाने आये हों, पर यहाँ क्या रखा है। मैंने तो बहुतेरा प्रयत्न किया, पर भगवान्की इच्छाको कौन बदल सकता है? कह दूँगा—"मैंने तो बहुत कोशिश की, पर क्या करूँ जी, रुपये कहींसे मिल ही नहीं सके। असल बात यह है पण्डितजी कि बैंकमें रुपया बाबूजीके नामसे जमा है और मैं उसे निकाल नहीं सकता!" सुनकर बेचारोंका बुखार चढ़ जायेगा। सारी तारीफ खाकमें मिल जायेगी। लो साहब, इनके पास दो रुपये भी नहीं। कोठी-बँगलोंमें रहते हैं और बने फिरते हैं ऐडीटर, पर दो रुपल्लीपर जान सूख गयी। भीतर-ही-भीतर सैकड़ों गालियाँ देंगे, पर मैं क्या करूँ। भगवान्की यही इच्छा है, तो हो। चला जायेगा कम्बख्त अपना-सा मुँह लेकर और नहीं जायेगा, तो एकादशीका व्रत करेगा।

"क्यों भाई, यों क्यों पड़े हो?"

"तबीयत खराब है जी!"

"खराब?"

"जी हाँ।"

"क्यों क्या बात है?"

"हार्टफेल हो रहा है मेरा!" झुँझलाहटमें भी मनुष्य क्या बक जाता है। कूदकर मेरे पास आये और चौंककर बोले, "हार्टफेल!"

"हाँ जी!"

"नहीं भाई घबराओ मत। हार्टफेल हो तुम्हारे दुश्मनोंका। कभी-कभी यों ही जी घबरा जाता है। अभी-अभी बीमारीसे उठे हो, फिर भी रात-दिन लिखते-पढ़ते रहते हो, यह ठीक नहीं।" उन्होंने मेरी नब्ज देखी,

ट टटोला, माथा छुआ और दिलकी धड़कन देखने लगे। मुझे ऐसा लगा कि वधसे पहले डॉक्टर बकरेका मुलायना कर रहा है।

"टिक टिक टिक।"

मैने आँखें खोलीं। एक देहाती बूढ़ा अपनी लाठी टेके दरवाजेपर खड़ा था। लो, यह कम्बख्त भी अभी आनेको था। मैंने उमरी रुलाईको दबाते हुए पूछा, "क्या है जी!"

"मैं पण्डित कन्हैयालालके दर्शन करना चाहता हूँ।"

होगा कोई बेचारा दुनिया और आया होगा अपनी रामकहानी 'विकास' में छपाने। पटवारीने खेतीका नक्शा गलत भर दिया होगा, थानेदारने रिश्वत माँगी होगी, जमींदारने गाली दी होगी, साहूकारने कर दी होगी झूठी नालिश या डिस्ट्रिक्ट बोर्डने लगा दिया होगा अण्ट-सण्ट टैक्स!

"कहिए क्या बात है?" मैंने नम्रतासे पूछा। "मैं उनसे मिलना चाहता हूँ जी!" बूढ़ेने उत्तर दिया।

"आइए, बैठिए। कहिए क्या आज्ञा है? मेरा ही नाम है कन्हैयालाल।"

"तुम पण्डित रामादत्तजीके ही लड़के हो भाई?"

मेरी जन्मपत्री बनायेगा क्या यह बूढ़ा! आया है, तो अपनी बात कहे और काम देखे। मेरी संवाददाताओं सहयोगियोंसे इसे मतलब, पर फिजूल दिमाग चाटनेकी हम लोगोंकी आदत जो पड़ गयी है। फिर भी नम्रतासे ही मैंने कहा, "जी हाँ, मैं उन्हींका पुत्र हूँ। आप उन्हें जानते थे क्या?"

"अजी, वे बड़े देवता आदमी थे। बस फिर दर्शन ही नहीं हुए। मैं उनसे मिलने तुम्हारे घर (देवबन्द–मेरी जन्मभूमि) गया था, पर वहाँ उनके स्वर्गवासका समाचार मिला। मनको बड़ा दुःख हुआ, वहींसे तुम्हारा

पता चला, तब तुम्हारे दर्शन हुए।"

पिताजीका स्मरण कर बूढ़ेका दिल भर आया। हो गया होगा कहीं विवाह-बारातमें परिचय। वे इतने मीठे थे कि मिलते ही आदमीको मोह लेते थे। जानकारीके लिए मैंने पूछा, "आपका मकान कहाँ है चौबरी साहब ?" उत्तर मिला, "मेरा मकान रुड़कीके पास एक गाँवमें है भाई!" तब वृद्धने धीरेसे पाँच रुपये अपनी धोतीकी गाँठसे खोलकर मेरे सामने रख दिये। ओह, ये पाँच रुपये! प्यासी आँखोंसे मैंने उन्हें देखा!

पिताजीका यजमान मालूम होता है बेचारा। उन्हें दक्षिणा देने बीस कोस गया और वहाँसे निराश होकर यहाँ आया। वे नहीं हैं, तो क्या; उनका उत्तराधिकारी मैं तो हूँ। राज्यकी तरह गुरुत्व भी तो वंश-परम्पराका अनुयायी है। फिर भी मैंने पूछा, "ये कैसे रुपये हैं जी!"

"महाराज, १९-२० सालसे मैं तुम्हारा कर्ज़दार था। आज भगवान्‌की दयासे उऋण हो गया। वैसे तो मैं जबतक जिऊँगा बड़े पण्डितजीका क़र्ज़दार रहूँगा।"

"कैसा कर्ज़, मैं आपकी बातका मतलब नहीं समझा ?"

"सोमती मावसपर १९-२० साल हुए मैं अपने बाल-बच्चोंके साथ हरद्वार जा रहा था और तुम्हारे पिताजी भी जा रहे थे। तुम जब बहुत छोटे थे। रेलमें उनसे मेल-मिलाप हो गया। बड़े सज्जन पुरुष थे। अब ऐसे आदमी कहाँ हैं ? लकसरमें टिकिट लेते समय मेरा बटुआ किसीने काट लिया। मैं दु:खी होने लगा। उन्होंने मुझे धीरज दिलाया और पाँच रुपये दिये। तुम्हारी माँने मना भी किया। तुम जानो औरतों-का दिल छोटा होता है, उन्होंने कहा, "बावली, आदमी ही आदमीके काम आता है।" तबसे हर साल सोचता रहा, मौका ही न लगा। बड़ी मुश्किलसे अबकी बार बानक बैठा, सो आज तुम्हारे दर्शन कर लिये।"

गाड़ीका समय समीप आ रहा था और मेरे पहले मेहमान आसन बदल रहे थे। मैंने चुपकेसे दो रुपये उन्हें भेंट कर दिये। ईश्वरीका

सवाल आ पहुँचा—"जोड़ दो मेरी तसवीर पिताजी ?" मेरा ध्यान चित्र-पर गया। भगवान् नृसिंह खम्भेसे प्रकट अत्याचारी हिरण्यकशिपुका वध कर रहे हैं। मैंने मन-ही-मन प्रार्थनाके स्वरमें कहा, "प्रह्लादके यहाँ तो तुम खम्भेसे प्रकट हुए थे, पर मेरे यहाँ तो वह खम्भा भी नहीं था। यहाँ तो मेरे देव ! तुम शून्यमें साकार हो उठे। तुम्हारी माया अपार है मेरे प्रभु !" और तभी वे वृद्ध भी खड़े हो गये—"अच्छा चल रहा हूँ, मुझे भी इसी गाड़ीसे जाना है पण्डितजी !" मनहर छाये, भक्तिके आवेशमें विभोर हो, उठते-उठते उन वृद्धके पैर मैंने छू लिये।

"हरे राम हरे राम यह क्या कर रहे हो ?" वृद्धने कहा और "आप-के दर्शन आज बड़े भाग्यसे हुए।"—यह मेरे मुँहसे निकल पड़ा। वे चले गये। दिन-भरके मानसिक द्वन्द्व और घटनाकी आकस्मिकतासे मैं इतना अभिभूत था कि उनका नाम और पता पूछना भी भूल गया।

ओह, हमारे ही ज़िलेके देहातका वह अनपढ़ और ग़रीब बूढ़ा, जो उस दिन भगवान्‌के रूपमें बिना बुलाये मेरे द्वार आ गया था, पर जो भारतीय चरित्रका एक प्रेरक प्रतीक है।

■

मसजिदकी मीनारें बोलीं !

मसूरीमें लण्ढौर बाजारसे उतरकर कैमेल्स बैंक रोडपर चढ़ते ही सामने खड़ी है एक मसजिद। बचपनसे ही मेरा संस्कार रहा है कि राहमें मन्दिर आये या मसजिद, गिरजाघर हो या गुरु-द्वारा, जैन-मन्दिर हो या कबीर-चौरा, मेरा सिर झुक जाता है और मन एक कोमल भावनासे भर उठता है। इस मसजिदको भी मैंने देखा तो झुक गया मेरा सिर और सिर उठाकर जो उधर देखता हूँ, तो एक अजीब बात कि इस मसजिदमें एक मीनार बड़ी है, एक छोटी ! यह क्यों ? और हाँ, मसजिदमें तो कई मीनारें होती हैं, ये दो ही क्यों हैं ? बड़ी मीनार तो गुम्बदकी जगह है, पर यह छोटी मीनार एक क्यों ? आगे बढ़कर देखा और समझा – अभी अधूरी है, दूसरी मीनारें अभी बनेंगी। अब जो मैं जरा गौरसे देख रहा हूँ, तो दरवाजेपर ताला लगा है और कहीं भी चिनाईका सामान नहीं है। मुसलमानोंके पास खानेको रोटी हो या नहीं, मसजिदके लिए उनके पास पैसेकी कमी नहीं होती। फिर यह मसजिद बीचमें क्यों रुकी पड़ी है ?

पूछनेपर आते-जाते किसीने कहा, "देशके बटवारेके बाद साम्प्रदायिक झगड़ोंके समय यह बन रही थी। झगड़ेमें कुछ मुसलमान मारे गये, कुछ भाग गये, अब उनकी जानको रो रही है यह खड़ी हुई।" व्यंग्यमें जो चुभन थी, उसने मुझे चुटीला किया। एक हिन्दूके लिए यह खुशीकी बात क्यों है कि मसजिद बनते-बनते रुक गयी ? मसजिद रुकी या मन्दिर रुका, दोनों पूजाके स्थान हैं। पूजा ईश्वरकी, फिर जिसका ईश्वरमें विश्वास है वह दोनोंमें भेद कैसे करेगा ? विश्वास जब अन्धा हो जाता है, तब वह इसी तरह देखता है। मेरा मन करुणासे भर गया। कुछ इस तरह जैसे

रा अपना घर बनते-बनते रुक गया हो ! मेरी आत्मीयता गहरी हो गयी और पासके जीनेसे मैं ऊपर चढ़ गया । अब मैं बड़ी मीनारके पास था ।

मीनारें चौंकन्‍-सी थीं । सुरतोंकी चादर-सी उनपर पड़ी हुई थी, फिर भी वे जाग रही थीं । मैं बड़ी मीनारके पास गया और बहुत ही प्यार-भरे हाथसे उसे थपथपाया । मुझे लगा, वह सिहर उठी और घबरायी-डबडबायी-सी आँखोंसे उसने मुझे देखा ।

बहुत ही कोमल स्वरमें मैंने उससे पूछा, "क्यों, तुम घबरा क्यों रही हो ?" वह और भी घबरा गयी और हकलाती-सी बोली, "क्या तुम मुझे तोड़ने आये हो ?"

मैं सकपका-सा गया, "क्यों मैं तुम्हें क्यों तोड़ूँगा ?"

"तुम हिन्दू हो न ?" मीनारने कहा ।

मैं आत्मकी लज्जामें डूब-डूब गया और मनमें आया — इसी मीनार-पर चढ़ जाऊँ और धड़ामसे नीचे कूद पड़ूँ । अपनेको सँभालकर मैं उससे लिपट गया और कई बड़े-बड़े आँसू मेरी आँखोंसे उसपर टपक पड़े । सान्त्वनाके गम्भीर स्वरमें तब उससे मैंने कहा, "नहीं नहीं, मैं तुम्हें तोड़ूँगा क्यों ? मेरे लिए तो तुम पूजाकी चीज़ हो ।"

मीनारके साँस अब स्वस्थ हो रहे थे । सँभलकर उसने कहा, "माफ़ करना, मैंने तुमपर ऐसा शक किया, पर क्या करूँ यहीं खड़े-खड़े मैं वह सब कुछ देख चुकी हूँ, जिसे देखकर ज़मीन मुरदा हो गयी है और आकाश बेल लहलहा उठी है ।"

"क्या उसकी कहानी मुझे न सुनाओगी, मीनार रानी ?" मैंने एक बार फिर उसे प्यारसे थपथपाया ।

"वह कहानी नहीं है, एक उपन्यास है, वह भी बहुत बड़ा । उसे सुनाना और सुनना दोनों ही मुश्किल हैं, इसलिए मैं तुम्हें एक दो इशारे देती हूँ, उनसे तुम जितना समझ सको, समझ लेना ।"

मीनार कहने लगी, "सहारनपुरकी म्युनिसिपैलिटी बहुत दिनोंसे कुछ कर्म-

चारियोंका अन्धेर-घर हो रही थी। लोगोंने उसे अपने लाभका साधन बना रखा था। सरकारने उसे भंग कर अपने हाथोंमें ले लिया और किदवईको एडमिनिस्ट्रेटर नियुक्त कर दिया। यह एक भला, ईमानदार और मजबूत इनसान था। इसने आते ही इस अँधेरे घरमें व्यवस्थाका दीपक जलाया कि उल्लुओंका राज उजड़ गया। स्वाभाविक है कि उल्लुओंका यह गिरोह उससे चिढ़ गया और मसूरीमें साम्प्रदायिक बाढ़के आते ही, इन उल्लुओंने उसे कत्ल कर दिया।

उल्लुओंने एक मसालची कत्ल कर दिया, बात इतनी थी, पर कहा गया, डोण्डी पीटी गयी कि हमने एक बुराईको साफ कर दिया। अब कमाल यह कि जिसने उस डोण्डीको सुना, उसको दाद दी और अपनेमें खुशी मनायी। किसीने भी यह नहीं सोचा कि यह शफीक अहमद किदवई उस किदवई (रफी अहमद किदवई) का सगा भाई था, जिसकी सारी जिन्दगी देशकी सेवामें कटी और यह उस बूढ़े किदवईका बेटा था, एक हिन्दूके हाथों महात्मा गान्धीकी हत्याका समाचार पाते ही जो दुनियासे चल बसा – जिसके दिलकी धड़कन बन्द हो गयी !

यह है पहला इशारा और लो यह दूसरा –

साम्प्रदायिक आगको शान्त रखने और उससे इस सुन्दर नगरकी रक्षा करनेके लिए अट्ठाईस मैजिस्ट्रेट बनाये गये। इनमें कुछ ऐसे थे, जिन्हें मुसलमानोंकी कोठियाँ खरीदनी थीं, कुछको दूकानें और कुछको इसी तरहका दूसरा सामान !

मैजिस्ट्रेटीका बिल्ला उनकी बाजूपर बँधा होता, फौजके छह सिपाही उनके साथ होते और इस तरह इन मैजिस्ट्रेट साहबकी निगरानीमें लूट, आग और क़त्ल-काण्ड होते। सभी तो ऐसे नहीं थे, कुछ तो बहुत ही ईमानदार थे, पर हाँ कई ऐसे थे। एक नवाबकी कोठी लुटी और उसका सामान इस तरह उठा कि जैसे लाला नकद दिये ला रहे हों। इन्होंमें-से एकने एक नागरिकको टेलेफोन किया कि तुम्हारा घर आज पाँच बजे

फूँक दिया जायेगा। तुम फौरन घरसे हट जाओ। मैं मित्रके नाते अपनी जान खतरेमें डालकर तुम्हें सूचना दे रहा हूँ। कोई और प्रबन्ध न हो, तो तुम मेरे घर चले आओ।" वह बेचारा अपने परिवारको लेकर चार बजे ही कचहरी जा बैठा और मैंने आँखें फाड़कर देखा कि पाँच बजे वे टेलिफोन करनेवाले सज्जन ही धूमधामसे उस खाली घरपर कब्जा किये बैठे थे!"

मोनारने यहाँ इतना लम्बा साँस लिया कि मेरा साँस दर्दसे भर उठा। तब फिर मोनारने कहा, "और भाई, इस सब गड़बड़को धर्मका, धर्मकी रक्षाका नाम दिया गया, जिसका मतलब कुछ आदमियोंको घबराहटमें डालकर उनकी जायदाद और मालको कम दामों या मुफ्त हड़प लेना ही था। यानी खुले तौरपर चोर और डाकू लोग धर्मके रक्षक बने हुए थे और मैं यहाँ खड़े-खड़े यह सब देख रही थी।"

मोनार अब चुप थी। उसका मन दर्दसे भर-सा गया था। "ये चोर और डाकू मेरी जातिके थे और धर्मके उस स्वरूपको माननेवाले थे, जिसे मैं भी मानता हूँ, इसलिए मोनार रानी, मैं भी तुम्हारे सामने अपनेको बहुत लज्जित पा रहा हूँ और मेरी समझमें नहीं आता कि मैं तुम्हारे दुःख-में इस समय कैसे भागीदार बनूँ?" मैंने बहुत ही नम्र होकर कहा, तो मोनार ज़ोरसे हँस पड़ी। बोली, "तुमने मेरी बात सुनी, पर उसका मर्म नहीं समझा। यह मेरी या तुम्हारी या उनकी जातिवालोंका सवाल नहीं है, क़तई नहीं है मेरे भाई, यह तो अन्धे नारोंका सवाल है। इसमें तरक़्क़ी, सचाईकी बात तो सिर्फ़ इतनी ही है कि खुद-ग़र्ज़ और चलते-पुरज़े लोग अपनी बदमाशियोंको ऐसी सूरत दे देते हैं कि आम जनता उसमें इस तरह उलझ जाती है कि पाप बन जाता है पुण्य और बुराई दीखने लगती है भलाई!"

मोनार कुछ सोच रही थी। अचानक वह बोली, "मैं ठीक कह रही हूँ तुमसे कि इस मसलेको हम तेरा-मेरा या हिन्दू-मुसलमानका बनाकर ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। यह भूलभुलैयाका रास्ता है और फिर तुम

सारा शोर अपनी आंखके सिवार तो कोई भी नहीं सहते !"

"क्यों ?" मैंने अचकचाकर पूछा। मीनारकी रानी, मुझे लगा पुरानी दुख-भरी यादोंसे भर उठी है। आंखोंको पोंछकर उसने कहा, "यह इसलिए कि अभी-अभी मैंने जिन बदमाशियोंकी चर्चा तुमसे की है, वह उन आगरा वालों की, जिन्हें मेरे धर्मवाले (हाय, उन बदमाशोंको और क्या कहकर तुम्हें परिचित कराऊँ ?) बरसोंसे मुसलमानोंके शासक रहे थे। लकड़ियाँ इकट्ठी कर इस आगरा सिकन्दरा तो एक गदा था मेरे मेरठ, पर इसे उजाड़नेका श्रेय देता कौन। सिवा इस जमानेके लोगोंके। अरे, तुम नहीं जानते, यह सब मेरी ही छायामें हुआ और मैंने यह सब इन्हीं आंखोंसे देखा। इन इनके पुराने धर्मवालोंको, उन्हींमें-से निकले मेरे धर्म-वालोंने कौन-सा कष्ट है, जो नहीं दिया। उन्होंने मेरी छायामें बैठकर ही उनके जुलूसोंका बाजा बन्द करानेकी बात सोची और यहीं बैठकर उन्होंने आगे कितने भयंकर दंगोंके नक्शे बनाये। उन्हें उस दिन क्या पता था कि जिन अंगरेजोंके इशारेपर वे इस तरह देशमें दंगोंकी यह गरम सड़क पर रहे हैं, वे यहांसे चुपचाप निकल जायेंगे और वह सड़क ही हमारी जानकी गाहक हो जायेगी !!"

मीनार अब चुप थी। मैंने उसकी ओर देखा, वह चुप ही रही। मुझे लगा, उसके दिमागमें अब विचारोंकी आंधी उठ आयी है और वह उसे बुरी तरह झकझोर रही है। उसका मन बदलनेको मैंने कहा, "मीनार रानी, तुम बहुत ऊंची हो और बहुत दूर तक देखती हो; इसलिए बीते दिनोंकी यह कहानी तो तुमने सुनायी, पर आनेवाले जमानेकी भी तो कुछ बात बताओ !"

"आइन्दाको खुदा जानता है !" मीनारने कहा, "पर भाई, आजके हम खुद मालिक हैं, इसलिए कलकी फ़िक्र छोड़कर मुझे तो यह दीखता है कि हम आजकी बातको समझें और उसपर अमल करें, तो आनेवाले कलको जैसा चाहें वैसा बना सकते हैं !"

"तो फिर कामकी ही बात बताओ।" मैंने कहा।

"कामकी बात ?" दीनानाथने अपने बिखरे विचारोंको बटोरते हुए कहा, "कामकी बात तो बस इतनी ही है कि इनसान यह समझ ले कि धर्म विश्वासकी चीज है, इसलिए जिनका विश्वास पूजामें है, वे पूजा करें और जिनका नमाज़में है, वे नमाज़ पढ़ें, पर इनसानको सबसे जरूरी चीज इनसानियत है। इनसान पूजा करे या नमाज़ पढ़े पर यदि उसमें इनसानियत नहीं है तो वह इनसान नहीं हो सकता।"

एक आवेशकी-सी झटके मेरे मुँहसे निकल पड़ा, "वाह, यह तो तुमने बड़े पतेकी बात कही।"

छोटी मीनार अचानक बोल उठी, "बात तो बड़े पतेकी कही, पर मुसीबत तो यह है कि आज इनसान इनसानियतको खोकर धर्मात्मा बननेको बेचैन है।"

मैं अब सड़कपर आ गया था। मेरे पैर चल रहे थे और दिमाग सोच रहा था—सचमुच यह कितनी अजीब बात है कि इनसान इनसानियतको खोकर धर्मात्मा बननेको बेचैन है!

■

युक्तप्रान्तकी असेम्बलीमें

आरम्भ

३ नवम्बर १९४७, प्रातः ग्यारह बजे। टिक, टिक, टिक तीन बार मेज खटकी और स्पीकर श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन भीतर पधारे। सब सदस्योंने खड़े होकर उनका स्वागत किया, उन्होंने सिर झुकाकर उसे ग्रहण किया और बस स्वतन्त्र भारतमें यू० पी० असेम्बलीका पहला अधिवेशन आरम्भ हो गया। केन्द्रीय असेम्बलीमें यह प्रथा रही है कि सभापतिके आनेसे पहले 'मार्शल' सदस्योंकी ओर मुँह करके कहता है—'दि आनरेबल प्रेसीडेंट' और सदस्य खड़े हो जाते हैं। प्रेसीडेण्टके पद-ग्रहण करनेपर बूढ़ा मार्शल अपनी कुरसीपर बैठ जाता है और अकसर सोता रहता है। प्रान्तीय असेम्बलीमें सेक्रेटरी ही मेज थपथपाते हैं। केन्द्रीय असेम्बलीमें प्रेसीडेण्टके सिंहासनसे नीचे सेक्रेटरी बैठते हैं, पर प्रान्तीय असेम्बलीमें सेक्रेटरी स्पीकरके इतने पास बैठते हैं कि उनकी बात सुन सकें।

एक ही नज़रमें

स्पीकरके सामने हालमें बायीं तरफ विरोधी दल यानी आजकल लीग दल, सामने ज़मींदार पार्टी और दायें हाथ सरकारी दल, जिसकी पहली सीटपर बैठते हैं महामान्य महामात्य श्रीगोविन्दवल्लभ पन्त। यह उस सीटके बिलकुल सामने हैं, जिसपर आजकल बैठते हैं विरोधी दलके नेता श्रीलारी साहब और लारी साहबकी यह सीट वही सीट है, जिसपर बैठनेके बाद १९२४में पन्तजीकी महान् प्रतिमाको पहली बार देखा पहचाना था। पन्तजी बायेंसे दायें आ गये हैं; अर्थात् देशके भाग्यकी उलटी धारा अब सीधी हो गयी है।

उनके पास बैठते हैं माननीय श्री सम्पूर्णानन्दजी शिक्षा-मन्त्री । उनके बाद माननीय श्री ठाकुर हुकुमसिंहजी माल-मन्त्री, माननीय श्री गिरधारी-लालजी नशा-मन्त्री और दूसरे माननीय मन्त्री । मन्त्रियोंके पीछे उनके सभासचिव – पार्लमिण्टरी सेक्रेटरी । ये लोग हमेशा असेम्बलीमें नहीं बैठते – अक्सर अपने दफ्तरोंमें चले जाते हैं । मन्त्रियोंमें सबसे अधिक बैठते हैं, श्री हुकुमसिंहजी, क्योंकि कानूनोंके बनाने-बिगाड़नेका काम भी उन्हींके हाथमें है । पार्लमिण्टरी सेक्रेटरियोंमें श्री गोविन्द सहाय और श्री-जगनप्रसाद रावत काफी देर बैठते हैं ।

मेम्बरोंके पीछे विशेष गैलरियाँ हैं, जिनके ऊपर दूसरी मंजिलमें दर्शक-गैलरियाँ हैं, प्रेस-गैलरी स्पीकरके सामने नीचे हॉलमें है। दिनमें भी बिजली-की रोशनी रहती है, एक विशाल गुम्बद इस सबको ऊपरसे ढके हुए है । हॉलमें घुसते ही एक भव्यता आदमीके मनपर छा जाती है ।

एक गहरी नजर

लीग दलपर एक गहरी नजर डालते ही सबसे पहली जो बात मनमें आती है, वह यह कि यह बड़े आदमियोंका वर्ग है । हमारे प्रान्तमें यह दल कांग्रेसके साथ ही बढ़ा है, पर १५ अगस्तने इसकी शक्तिके टुकड़े कर दिये हैं । कोशिश हो रही है कि ये टुकड़े जुड़कर फिरसे एक शिला-का रूप ले लें, पर कोशिश हो रही है कि ये टुकड़े पिस जायें और फिरसे उभर न सकें । समय दूसरी कोशिशके साथ है और यही विजयी होगी । लीगी सदस्य इसे महसूस करते हैं, यह इससे सिद्ध है कि उनपर एक मायूसी छायी हुई है । जब पन्तजी बोलते हैं, तो वे बायीं हथेलीपर गाल रखे बैठे रहते हैं जैसे अभियुक्त जजका फ़ैसला ... वे जानते हैं,
अगली असेम्बलीमें हम यहाँ न होंगे । ... -सी आती है,
पर बिलकुल वैसी, जैसी बिना ... टिकिट-चैकर
झँझोड़ता है, तो

... खड़ा है मौत ।

यह निश्चय है कि यह घटना यदि किसी डिक्टेटरी देशमें हुई होती, तो १५ अगस्तकी रात इन लोगोंकी जिन्दगीकी आखिरी रात होती, पर हमारा देश प्रजातन्त्री है, इसलिए ये जी रहे हैं और जियेंगे। हाँ, इस तरह कि हर घड़ी अपनेको मुरदा महसूस करें। छह सेकेण्डकी उस मौतसे यह बरसों लम्बी मौत वाक़ई कड़वी है, इसमें शक नहीं।

ज़मींदार पार्टीपर नजर डालते ही ऐसा लगता है, जैसे ये अपनी मरती मनाशाके लम्बे साँस हों! अगली असेम्बलीमें बेचारे दूसरे मेम्बरोंसे माँगकर कभी-कभी यह हाल देखने आया करेंगे। जमींदारियाँ ही खत्म हो जायेंगी, तो जूतेके जोरसे वोट लेनेवाले कहाँ रहेंगे?

कांग्रेस दलपर एक नजर डालते ही पहली बात जो मनमें आती है वह यह कि उसमें प्रान्तकी सर्वोत्तम प्रतिभाएँ नहीं, सर्वोत्तम स्वतन्त्रता-साधक हैं। अभीतक जेल-निवासकी घड़ियाँ गिनकर मेम्बरीकी रेवड़ियाँ बाँटी गयी हैं और यह ठीक भी है, पर भविष्यमें ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक दृष्टिकोण बढ़ता जायेगा, उपयोगिता ज़ोर पकड़ेगी।

अपनी छोटी-सी फ़ाइल लिये, देखिए, ये चली आ रही हैं श्रीमती विद्यावती राठौर। ८ फरवरी १९३६ को 'लीडर'के विश्व-विख्यात सम्पादक सर सी० वाई० चिन्तामणिको इन्होंने ६००० वोटोंसे हराया था। कई प्रणाम! सर चिन्तामणि, सर सीताराम और सर षण्मुखम् चेट्टीकी हार पिछले चुनावके चमत्कार थे। चमत्कार आन्दोलनको उभार देते हैं, पर निर्माण चमत्कारोंसे नहीं, गम्भीर योजनाओंसे बल पाता है। यह स्वस्थ दृष्टिकोण अब प्रबल होगा और आशा है अगली असेम्बलीमें जहाँ प्रान्तके सर्वोत्तम कानून-विशारद आयेंगे, वहाँ कृषि-विशारद, पत्रकार, शिक्षा-शास्त्री, चित्रकार, अभिनेता, व्यापारी, उद्योगी और विभिन्न अन्य धाराओंके प्रतिनिधि भी दिखाई देंगे। इससे गुणीजनोंका व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओंके कारण अराष्ट्रीय संस्थाओंमें जाना और नयी-नयी पार्टियोंका बनना रुकेगा और असेम्बली हमारे प्रान्तकी आत्माका सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व करनेमें समर्थ होगी।

इसको पार्लमेण्टमें भी इस तरहके परीक्षण किये गये हैं और वे बहुत सफल रहे हैं। केन्द्रीय सरकारमें मर चेट्टी, डा० अम्बेडकर, श्री मुकर्जी और श्री मथाईका आना भी इसी दिशाका एक इशारा है।

एक और नज़र

असेम्बलीपर नज़र डालते ही एक लाल चीज़पर ध्यान जाता है। यह मौलाना हसरत मोहानीकी तुर्की टोपी है। बीमारी और बुढ़ापेका घाटा शरीर, साधारण कपड़े और धीमी-मरियल-सी आवाज़, यह १९२० के उस तिलकके खण्डहर हैं, जिसमें तब ऐसी रोशनी थी कि आँखें चुँधिया जाती थीं, ऐसी दहाड़ें थीं कि कान फटते थे। देखकर दिल तड़प उठता है। ओह, यही वह मोहानी है, १९२०-२२ में जिसकी नज़मोंसे आगरा जेलकी काल कोठरियाँ गूँजीं। जिसे राष्ट्रपति होना था, वह राष्ट्रपतित होकर रह गया !! ठीक है, भारी चीज़ जब ऊँचाईपरसे गिरती है तो निकलती नहीं, चील-चील हो जाती है।

आह मौलाना हसरत मोहानी . लोग दलके गममें बेचैन होकर, जैसे कायदे-आज़मकी बुरी तलवार-जैसा या शाहंशाहे पाकिस्तानका चूमा हुआ आम !! खुदा इनकी रूहको राहत दे !!!

इसी नज़रमें यह एक और भगवा-सा कुरता, छोटे बालोंका सिर, बिना मूँछका चेहरा, हँसमिख होंठ, ऊँची-सी धोती और हाथमें झोला, यह है महन्त जगन्नाथदास—यू० पी० असेम्बलीमें एक मात्र साधु-सदस्य। साधुओंका काम चलाना जानता है कि जैन नाटका ? लोहीका प्रश्न भी आये, तो सेठोंकी अध्यक्षता या जनताके भोजनका लाभ उठाकर छाँटे करनेका तरीका बतायें और हिरिजनजनताके सौतिन, पर कहें, कम्बल-ओंका पथ सायनाका पथ रहा है और पिछड़े या गुलाम उसपर दृढ़ताके साथ चलकर ही वे यहाँतक आये हैं। काश, देशके साधु उनसे आदर्श लिया लें और उस बाहरी वर्गको, जो निराश आ रही है और उन्हें बिलकुल

सागर तक पहुँचाकर ही साँस लेगी।

इसी नजरमें गलेके दो हारोंपर भी ध्यान जाता है। पहला स्वायत्त-शासनके मन्त्री माननीय श्री आत्माराम गोविन्द खेरका तह किया हुआ, दायीं बगलसे हो बायें कन्धेपर गया और दूसरा श्री धुलेकरका, पंजाबी स्त्रियोंकी चुन्नीकी तरह छातीसे दोनों कन्धोंको पार कर कमरपर लटकता हुआ।

महिला सदस्याओंमें विशालता, आकृति और चाल तीनोंमें पण्डित पन्तके समान श्रीमती प्रकाशवती सूद हॉलमें झाँकते ही आँखोंमें आ जाती हैं।

हॉलकी झाँकीमें रंगोंका अनुपात है ८५ प्रतिशत सफ़ेद, १० प्रतिशत काला और ५ प्रतिशत शेष।

मन्त्रियोंमें आकृतिके ध्यानसे सबसे विशाल हैं पन्तजी, सम्पूर्णानन्दजी और केशवानीजी तथा सबसे पतले हैं खेरजी और लालबहादुरजी! सबसे नाटे सभासचिव हैं गोविन्द सहायजी और सबसे दुबले जगनप्रसादजी रावत।

सारी असेम्बलीमें सम्भवतः सबसे सुन्दर सदस्य हैं, श्री कमलापति त्रिपाठी—माथेपर गोल बिन्दी, बड़े बाल, भरा शरीर, हंसकी चाल, गहरे पान-रचे होंठ और नारी-सौन्दर्यसे ओतप्रोत आकृति। देखकर फिर देखनेको जी चाहता है!

"मैं दुनिया-भरमें एक गवर्नमेण्ट देखना चाहता हूँ, पर यह देरकी बात है! मैं सपना देखनेवाला भी हूँ, पर मैं वास्तविकतासे भागा नहीं हूँ। जरूरत है कि हम आजके खतरोंकी ओर देखें, आँखोंपर पट्टी नहीं बाँधें। मर्द बनें, क्योंकि देश शक्तिके भरोसेपर ही जीवित रह सकता है और जनताकी शक्ति ही हमारी शक्ति है।"

देशकी नयी हालतपर रोशनी डालते हुए अपनी पैनी शैलीमें श्रद्धेय श्री टण्डनजीने कहा। उनके भाषणमें पीड़ा भी थी और हुंकार भी।

छुड़ाये न छूटे और पढ़नेके बाद भी दिमाग़-दिल उसीमें लीन रहें!

पन्तजीका भाषण सुनकर एक प्रश्न उठता है–वे प्रवक्ता हैं या डिबेटर? प्रवक्ताका काम भावनाओंको उभार देना है और डिबेटरका काम एक तथ्यकी स्थापना। प्रवक्ताका प्रभाव तुरन्त पड़ता है, पर वह तुरन्त समाप्त भी हो सकता है। डिबेटरका प्रभाव देरमें पड़ता है, पर अधिक स्थायी है। बात यह है कि प्रवक्ता अपनी ही बात कहता है और डिबेटर हमारी शंकाएँ स्वयं खड़ी करके उनका जवाब भी देता जाता है। पन्तजीकी भाषण-कलामें प्रवक्तापन भी है अवश्य, पर मुख्य रूपसे वे डिबेटर ही हैं – विचारोंके बहुत सफल वकील।

वे बोलते समय कभी-कभी मेज़ थपथपा देते हैं, जैसे अपनी स्थापनाका खूँटा हिला-हिलाकर ठोंक रहे हों। अपने भाषणमें वे बाहरसे भीतर जाते हैं और भीतर हृदयसे रस ग्रहण करते हैं। असलमें वे हृदयप्रधान मनुष्य हैं या मस्तिष्कप्रधान? बड़ा मुश्किल सवाल है, पर मैं कहना चाहता हूँ कि इस सवालपर हम एकतरफ़ा हो नहीं कर सकते। उनमें प्राचीन भारतका सांस्कृतिक हृदय है, नये युगका राजनैतिक मस्तिष्क। उनमें हृदयकी कोमलता है, मस्तिष्ककी दृढ़ता। उनका हृदय दानशील है और मस्तिष्क ग्रहणमें जागरूक और बस यहीं वे अपने साथियोंमें श्रेष्ठ हैं – महान् हैं।

उनका भाषण लम्बा था। उसका सार था कि जो वफ़ादार हैं, हम प्राण देकर भी उनकी रक्षा करेंगे और जो बेवफ़ा हैं, वे चले जायें, वरना हम उन्हें कुचल देंगे। इस भाषणको अगर एक लेख मान लें, तो उसका शीर्षक होगा – 'आत्मविश्वास; हमें अब कोई नहीं कुचल सकता।' पन्तजी जब बोल रहे थे, तो लोगियोंके कान सुन रहे थे और दिल सोच रहे थे। यही थी पन्तजीके भाषणकी सफलता है! [illegible] भाषण सुनकर और असेम्बलीके अनेक सदस्योंसे मिलकर [illegible] – पन्तजीके हाथमें हमारे प्रान्तका भाग्य सुर[illegible] [illegible] तक उनका

नेतृत्व अखण्डनीय है।

मुसकराता खूबसूरत चेहरा और सधा शरीर, ये उठे विरोधीदलके नेता श्री जहीरुल हसनैन लारी। बोले, "आनरेबल प्रीमियरने साफ़-साफ़ बातें कही हैं। साफ़ बातें अच्छी होती हैं, इसलिए मैं भी साफ़ बातें कहूँगा।" सुनते ही मुझे लगा कि वातावरणमें गरमी आयेगी, पर चतुर लारी वहीं सँभल गये और भारी न बनकर सतहपर ही रुक गये। उनके सारे भाषणका सार था कि जिन्नासे अब हमारा कोई सम्बन्ध नहीं और हम पूरी तरह देशके प्रति वफादार रहेंगे। लारीके भाषणका नारा था – हमने कोई भूल नहीं की और अब भी हम कोई भूल नहीं करेंगे, पर मुझे लगा कि जल्दी या देरमें समयका चक्कर इन्हें पढाकर ही रहेगा कि तुमने भूल की – भयंकर भूल और भूलका कफ्फारा करके ही तुम आबरूकी जिन्दगी यहाँ गुजार सकते हो।

अब आया हिन्दीका प्रस्ताव – असेम्बलीका सब काम आइन्दा हिन्दीमें ही हो। लीगके लंगरमें खलबली मच गयी – जैसे बच्चे सँपेरेका पिटारा खुलते समय चौंक पड़ते हैं, वे महसूस करते हैं कि साँप उनकी आस्तीनमें है। हिन्दीके पक्षमें श्री जगमोहन सिंह नेगीका भाषण आर्यसमाजी भजनोपदेशक टाइपका था। ऐसे भाषण हमारे सदस्य न दें, तो ठीक है। श्री कमलापति त्रिपाठीका भाषण एक समझदार भक्तका भाषण था। वैज्ञानिक दृष्टिकोणके एक भाषणकी कमी रह ही गयी। सचाई यह है कि असेम्बलीके कार्यके प्रति तल्लीनता मुझे बहुत कम मेम्बरोंमें दिखाई दी। वे सोचते हैं – काम करना सरकारी मेम्बरोंका काम है और फिर किसी प्रस्तावको पास करनेकी शक्ति तो हमारे हाथमें है ही।

हिन्दुस्तानीके पक्षमें श्री इशहाक खान खूब जमकर बोले। भाषण अँगरेज़ीमें था और इसके लिए तैयारी की गयी थी। जब वे गान्धीजी और जवाहरलालजीको बार-बार उद्धृत कर रहे थे, मेरे जीमें आया ज़ोरसे पुकार उठूँ – टू लेट माई डियर (प्यारे, अब तुम बहुत लेट हो गये)।

थे वही इमहाक प्राण है, जो हिन्दुस्तानीके नामपर साँस नहीं लेते थे। मुझे याद है कि एक बार श्री महन्त जगन्नाथदासजीने हाथ जोड़कर इन्होंसे प्रार्थना की थी कि कृपाकर उर्दूमें बोला करें, पर वे टससे मस न हुए। आज उन्हें गान्धीजीका गुणगान करते देखकर दया आती है। यह सच है कि लीगियोंने देशको मिटानेमें कोई कसर नहीं रखी, पर यह भी सच है कि वक्तने उन्हें भी बरबाद कर दिया। आज वे शिकायत करते हैं कि सरकारी अफसरोंमें 'ईमानदारी' नहीं है, पर वे यह क्यों नहीं सोचते कि अफसरोंको 'बेईमानी' का सबक उन्होंने ही पढ़ाया था।

हिन्दीका प्रस्ताव पास हो गया और मुसलिम लीगी 'वाक आउट' कर गये! उनकी खाली सीटें पड़ी कह रही थीं – "यह लोग अभी नहीं बदले और जबतक मजबूर न हो जायें बदलेंगे भी नहीं।"

हिन्दीका प्रस्ताव पास हो गया। इसका अर्थ हुआ प्रान्तकी आत्मा उसे वापस मिल गयी। आशा करनी चाहिए कि बिहार और मध्य प्रान्त भी शीघ्र ही अपने यहाँ यह क़दम उठायेंगे और विधान-परिषद् भी इसी राह आयेगी। प्रान्तोंकी भाषाओंके मनके अपनी-अपनी जगह रहेंगे और हिन्दीका सूत्र उन्हें एकमें बाँधे रहेगा।

क्या हिन्दीकी विजय हिन्दुओंकी विजय है? नहीं यह साम्प्रदायिकता-के विरुद्ध राष्ट्रीयताकी स्मरणीय विजय है।

यह मिनिस्टरोंकी गैलरी है – सेक्रेट्रिएट। असेम्बली देखने आये हैं, तो आइए इसे भी देख लें। यह माननीय अर्थ-मन्त्री पं० श्री कृष्णदत्त पालीवालका कमरा है। पालीवालजी किसी गाँवमें नीमकी छायामें बैठे हों या मिनिस्टरीकी कुरसीपर, वे जनताके आदमी हैं, इसलिए जनताका हर आदमी उनके पास बेधड़क आना अपना अधिकार समझता है। हम अपने अधिकारोंका कितना दुरुपयोग करते हैं, यह मैंने पालीवालजीके कमरेमें बैठकर देखा। एक देहाती सज्जन पधारे। बोले, "अमुक आदमी

आपके मकानपर ठहरे थे, वे गये या हैं ?" बेकारकी बात थी, मुसकाकर पालीवालजीने कहा, "आप यही पूछनेके लिए यहाँतक आये हैं महाराज!" घबराकर वे बोले, "नहीं, नहीं, मैं तो एक और बातके लिए आया हूँ।" पालीवालजीने कहा, "तो वह कहिए न ?" बोले, "जनताकी इच्छा है कि आप""कान्फ्रेन्समें अवश्य पधारें।" पालीवालजीने कहा, "वह कान्फ्रेन्स तो २९ तारीखको हो चुकी और मैं उसमें भाषण भी दे आया।" कार्यकर्ता महाशय घटे होंगे। ये बेचारे बहुत दिन हुए, घरसे चले थे और यों ही माननीय मन्त्रीका समय बरबाद कर रहे थे। पालीवालजीने मुझसे कहा, "इस तरहकी बातोंमें इतना समय चला जाता है कि कामकी बातें पीछे पड़ जाती हैं।"

मैंने सोचा कितने गँवार लोग हैं ये, पर दूसरे दिन पालीवालजी एक डेपुटेशनसे मिल रहे थे और मैं बाहर प्रतीक्षामें था। एक एम० एल० ए० साहब आये और कमरेमें घुसने लगे। अर्दलीने कहा, "वे डेपुटेशनसे मिल रहे हैं।" जरा रुककर उन्होंने कार्ड दिया। पालीवालजीने उन्हें भीतर बुलाया। एक ही मिनिटमें वे लौट आये और अर्दलीसे बोले, "तुम्हारे कहनेसे मैं रुक गया था, नहीं तो मैं किवाड़ खोलकर सीधा चला जाया करता हूँ!" जीमें आया कह दूँ, "हाँ साहब, आप लाट साहबके हमसाले हैं" पर चुप रहा! कई कार्यकर्ताओंको उनसे पाँच मिनिटकी बातके लिए आध घण्टा झक-झक करते देखा। मैंने सोचा, हमारे नेताओंको गैरोंकी अपेक्षा अपनोंसे अधिक सहना पड़ रहा है।

मिलनेवालोंका जोर पालीवालजीके साथ सबसे ज्यादा माननीय गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्रीपर रहता है। चारों ओरके उपद्रवोंकी सूचनाओंका भार ही उनपर नहीं रहता, आनेवाले डेपुटेशनोंके साथ बातचीतका बोझ भी उन्हें सहना पड़ता है। यह बात-चीत एक ही तरहकी होती है। हम निर्दोष हैं, सरकारी अफ़सरोंने ठीक काम नहीं किया सजा या जुर्माना माफ किया जाये; फिर भी वह कभी ऊबते नहीं हैं

सबकी बात धैर्यसे सुनते हैं, अपने कागजपर उनके नोट्स लेते रहते हैं। ये नोट्स हमेशा अँगरेजीमें होते हैं और पेन्सिलसे लिखे जाते हैं। इस सम्बन्धमें उनका मुकाबला बहुत ही कम लोग कर सकते हैं। एक दिन रातमें ग्यारह बजे मैं उनके कमरेमें गया। वे एक डेपुटेशनसे मिल रहे थे और तीन डेपुटेशन अभी और बाकी थे। मैंने सोचा, जो आदमी प्रातः दस बजे दफ़्तर आया था, उसका तेरह घण्टे बाद भी शान्तचित्त होकर इस तरह बातें सुनना, इनसानकी बहुत बड़ी विशेषता है। हँसना-रूठना तो उन्हें कभी आता ही नहीं, इसका महत्त्व इस बातसे और भी बढ़ जाता है कि वे मन्त्रि-मण्डलके सबसे कमज़ोर सदस्य हैं। आँखें नीची, कान और उँगलियाँ सतर्क, आवाज़ धीमी और हृदय नतीजे निकालनेमें मौन, उनकी यह मुद्रा इतनी आकर्षक है कि देखकर भूलना आसान नहीं है।

'चन्द्रकान्ता सन्तति'में एक मकानका ज़िक्र है, जो तालाबमें था। दुश्मनोंने सुरंगकी राह उसका पानी निकाल दिया और वे उसकी ओर बढ़े, पर उसी चारों ओर लम्बे-लम्बे आरे चलने लगे, जिससे वे कट गये। हमारे प्रान्तके मन्त्रि-मण्डलके माननीय श्री ठाकुर हुकुमसिंहजीकी उपमा आसानीके साथ इस मकानसे दी जा सकती है। तर्कों, प्रश्नों और विवादोंके अम्बारको वे पलक मारते काट डालते हैं। जहाँ उन्हें नहीं जाना, आप बहलाकर वहाँ उन्हें नहीं ले जा सकते। मैं एक दिन उनके कमरेमें बैठा था। यों ही मैंने पूछा, "राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघके बारेमें आपकी क्या राय है?" अपना पानका बड़ा डिब्बा खोलकर मेरे सामने करते हुए बोले, "लो पान खाओ और यह सवाल लालबहादुरजीसे पूछना!" और इतने जोरसे हँसे कि मैं भी हँस पड़ा। वे आकृति और प्रकृति दानोंमें ठाकुर हैं, मित्रों और शत्रुओं दोनोंके 'स्वागत' के लिए तैयार। १९४७ में एक मिनिस्टरकी कुरसीपर बैठे हुए भी मुझे वे वैसे ही लगे, जैसे १९३२ में फ़ैज़ाबाद जेलकी नं० एक बैरकमें अपने साथ रहते हुए लगा करते थे। ठाकुर हुकुमसिंह, सरल, सुलझे, सरस, दृढ़, अपनी जगहपर ख़ूब।

माननीय शिक्षा-मन्त्री श्री सम्पूर्णानन्दजी हमारे प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलके सबसे विद्वान् सदस्य हैं। अध्ययनशील और चिन्तनशील। उनके अध्ययन और चिन्तनके सुफल हमारे हिन्दी साहित्यकी समृद्धिके कारण बने हैं और आज हिन्दीको देशमें जो स्वरूप प्राप्त हो रहा है, वे उसका निर्माण करनेवालोंमें एक हैं।

पंचवर्षीययोजनाके उनके दफ्तरमें ही इस बार उनके दर्शन करनेका अवसर मिला। बातको सहानुभूतिसे सुनना और उसपर तुरन्त निर्णय देना, यह उनका स्वभाव है। जब-जब मैंने उन्हें देखा है, मुझे लगा है कि उनका सारा चरित्र उनकी आकृतिमें आबद्ध है। बन्द होंठ, रहस्यके प्रति संयम, बड़ी आँखें, लक्ष्यके प्रति एकनिष्ठता और विशिष्ट मस्तिष्क ज्ञान-गाम्भीर्यके प्रतीक-से हैं। उनसे मिलकर खुशी तो बहुत नहीं होती, पर बड़ी गहरी मानसिक सन्तुष्टि मिलती है।

काशी विश्वविद्यालयका एक विद्यार्थी जितनी बार अपने घरसे विश्वविद्यालय गया, रास्तेमें ही अपना बिस्तर खो गया — इतना अल्हड़, इतना मस्त। वही आज हमारे प्रान्तमें नशोंका मिनिस्टर है — माननीय श्री गिरधारीलाल। लम्बे, पतले, चुस्त सदा हँसते। बच्चोंकी तरह सूरत और साथियोंकी तरह रले-मिले। वे हमारे अपने हैं, इसलिए यदि उनका कमरा मेरे लिए विश्राम-मन्दिर रहे, तो यह स्वाभाविक है। भाई गिरधारीलाल, हरिजन जातिके रत्न और प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलकी शोभा ही नहीं, मनुष्यताके शृंगार हैं। उनसे मिलकर मुझे हमेशा ही आत्मीयताका ऐसा रस मिला है, जो जीवनका बहुमूल्य वरदान ही है। मुझपर इस बार यह प्रभाव पड़ा कि वे अपने कार्यमें रसलीन हैं और पुराने एक्साइज मिनिस्टर जहाँ नशोंकी आमदनी बढ़ानेका काम किया करते थे, वहाँ वे प्रान्तसे नशोंका मुँह काला करनेमें जुटे हुए हैं।

दूसरे मिनिस्टरोंसे मिलनेका मैं प्रोग्राम बना ही रहा था कि उपद्रवके समाचार सुनकर सहारनपुर लौट आया।

■

मरनेके बाद मुलाकात

प्रेमचन्द अपने समयके सबसे बड़े हिन्दी कलाकार थे, पर वे जितने बड़े कलाकार थे, उससे भी बड़े मनुष्य थे। उनकी मनुष्यताकी कसौटी भी उनकी कला ही है।

उनके जीवनमें उन्हें समाज कुछ न दे पाया। वह उन्हें देता है, जो उससे झपट ले, पर प्रेमचन्दमें झपट तो दूर, माँग भी मजबूत न थी। वे अनन्तदानी थे — बिना कुछ पाये भी दिये गये — दिये ही गये और इस दानमें कहीं भी उस अप्राप्तिकी उदासी या कटुता नहीं है। यहीं मैं कहता हूँ कि उनकी मनुष्यताकी कसौटी उनकी कला है।

प्रेमचन्दका स्वभाव था — विरोधमें मौन। उनपर आक्षेप हुए — भद्दे और छिछले, पर उन्होंने कभी जवाब नहीं दिया। स्वयं अपनी कला, रचनावृत्तिके सम्बन्धमें भी अपना मत या दृष्टिकोण हमें दिये बिना ही वे इस दुनियासे चले गये।

उस दिन मैं उनका 'रंगभूमि' उपन्यास पढ़ रहा था कि मनमें आया — बाबूजी, एक बार मिल जायें, तो उनसे अनेक प्रश्न पूछूँ। स्वयं ही मुझे हँसी आ गयी — अब उनसे मुलाक़ात कहाँ सम्भव है।

तभी हलकी-सी एक पदचाप, कपड़ोंकी एक सरसराहट — कोई आकर मेरी चौकीके पास बैठ गया। आँखें मिलीं कि मैं चौंका स्वयं बाबूजी ही थे — हाँ, प्रेमचन्द!

"ऐं! बाबूजी, आप! आप यहाँ कहाँ? आपके बारेमें तो सुना था कि आप मर गये! और सुना क्या, यह सच ही था। देश-भरके पत्रोंने इसपर श्रद्धांजलियाँ समर्पित की थीं और आपके 'हंस' ने तो अपना 'प्रेमचन्द-स्मृति-

अंक' प्रकाशित किया था, पर कहीं भी नहीं, आप तो वैसेके वैसे ही हैं। मैक्सिम गोर्की-जैसी ये ही मूँछें, ये ही रसीली और नशीली आँखें और वही हँसी। आखिर बात क्या है यह बाबूजी ?" मैंने पूछा।

वे बोले, "बात क्या होगी; हमारे महान् जीवन-शास्त्र गीतामें यह लिखा है कि 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥' यानी जिस तरह मनुष्य अपने पुराने कपड़े छोड़कर नये बदल लेता है, उसी तरह आत्मा पुरानी देह छोड़कर नयी देह ग्रहण कर लेता है।

यह इस देशका दुर्भाग्य है कि अपने जीवन-शास्त्रमें इतनी बड़ी बात लिखी होनेपर भी, यहाँ मृत्युको इतना अधिक महत्त्व दिया जाता है और जीवनकी इतनी अधिक उपेक्षा की जाती है।

इधर-उधर क्यों भटकते हो, मेरी तरफ ही देखो। मेरे आधी सदीके जीवनमें जिन्होंने यही नहीं कि एक बार भी मेरी ओर प्रेमसे नहीं देखा, बल्कि हमेशा जो अपने खूनी पंजे मुझपर कसे रहे, वे मृत्युकी साधारण घटना होते ही बदल गये और इतने जोरसे रोये कि मेरे आत्मीयोंका विलाप भी फीका पड़ गया।"

मैंने कहा, "बाबूजी, बात यह है कि हमारे देशमें नर्सोंकी बहुत कमी है और स्यापेवालियोंकी बहुतायत है। अच्छा, यह तो बताइए कि आज-कल आप कहाँ हैं ?"

बोले, "मैं अब यहाँसे दूर अन्तरिक्षमें हूँ। आज इधरसे जा रहा था कि तुम दिखाई दे गये, नीचे उतर आया। कहो, आजकल क्या पढ़-वढ़ रहे हो ?"

"आजकल मैं आपका ही साहित्य पढ़ रहा हूँ। पढ़ते-पढ़ते बहुत-से प्रश्न मनमें उठे हैं। अच्छा ही हुआ कि आप मिल गये। आज्ञा हो तो मैं कुछ पूछूँ ? मैंने अवसरका सदुपयोग किया।

"तुम जानते हो कि मैंने अपनी आलोचनाओंका कभी उत्तर नहीं

ा। मुझे यह अच्छा ही नहीं लगता कि मैं प्रश्नोत्तरके दायरेमें आऊँ, फिर तुम पूछ सकते हो। मैं यत्न करूँगा कि अपना दृष्टिकोण तुम्हें ा सकूँ।" वे इस समय बातचीतकी मूडमें थे।

मेरा पहला प्रश्न था, "बापूजी, आपका सबसे महान् पात्र सूरदास । वह गान्धीजीका प्रतीक है। वह असत्यके विरुद्ध सत्यका आग्रह करता पर उसे सफलता नहीं मिलती, जिस कामके लिए वह अपना सब कुछ दाँवपर रख देता है, वह नहीं बनता और चारों ओर असफलताकी ाशामें उसका अन्त होता है। इस तरह सूरदासके रूपमें आपने अपने दोंकी निराशाका ही सन्देश दिया है।"

बाबूजी बोले, "आपकी बात सुनकर मुझे हँसी ही आयी और मैं अच्छी तरह समझ गया कि लेखकका काम एक निर्माण करना है, पर समालोचककोंका काम सिर्फ़ यह देखना है कि इस निर्माणमें कहाँ-कहाँ छेद रह गये हैं। फिर इन छेदोंको भी वे अपने ही चश्मेसे देखते हैं और कभी-कभी यह भी होता है कि हवाके लिए रखे झरोखोंको वह दीवारकी कमज़ोरी बताकर बन्द करनेकी भी सलाह दे देते हैं।"

"यह कैसे बाबूजी? मैंने तो कोई ऐसी बात नहीं कही।" मैंने उन्हें बीचमें ही रोका।

वे बोले, "पहली बात तो यह है कि सूरदास गान्धीजीका प्रतीक नहीं है। उसे लेकर जो लोग गान्धीजीके विचारोंका मज़ाक़ उड़ाते हैं, वह उनके दृष्टिकोणकी एकांगिता है। सूरदास असलमें मानव-जीवनका प्रतीक है और हमें अपने युद्ध और उसकी असफलता दोनोंसे यह बताता है कि मनुष्यको अन्यायके विरुद्ध न्यायपूर्वक हमेशा युद्ध जारी रखना चाहिए और उसमें हमें असफलता मिले, तो निराश नहीं होना चाहिए। सूरदासका सन्देश ही यह है कि सफलता या असफलता मनुष्यके कार्यकी कसौटी नहीं है। खिलाड़ी खेलते हैं। एक हारता है, एक जीतता है। अब यह जीत खेलकी कसौटी नहीं है। क्योंकि बहुत बार ऐसा होता है कि मूर्ख खिलाड़ी

अन्तमें एक भाग्यके जोरपर जीत जाता है और बढ़िया खिलाड़ी हार जाता है। इम्तहानमें बुद्धू लड़का पास हो जाता है, तेजस्वी लड़का फेल। जीवनकी दौड़में धूर्त और तिकड़मी आदमी सफल हो जाते हैं और ईमानदार पिछड़ जाते हैं। अब आप क्या कहेंगे? असलमें जीवनकी सही कसौटी यह है कि हमने अपना काम कितनी सावधानी, ईमानदारी और पूर्णतासे किया। फल तो बाई एक भाग है। दूसरे शब्दोंमें ९९ प्रतिशत जीवन है, कार्य है, कार्यकी शैली है और एक प्रतिशत उसका फल! अब इस एकको ९९ और ९९ को एक बताना या समझना क्या अर्थ रखता है? यही मेरे सूरदासके सन्देशकी व्याख्या है।"

मैंने कहा, "यह तो आपने अजीब बात कही। इस तरह तो जीवन-पर निष्क्रियता छा जायेगी और कोई भी परिश्रम नहीं करेगा।"

बाबूजी तनकर बैठ गये। बोले, "यह अजीब बात नहीं है। जीवनका यह महान् दर्शन है। भारतीय विचारधारा शुरूसे ही यह व्यक्त करती है कि मनुष्य तो कर्तव्य कर्मके लिए बाध्य है, फलोंकी चिन्तामें उलझना उसका काम नहीं। फल ईश्वरके हाथ है; यानी वह एक चान्स है।

अच्छा एक बातपर और ध्यान दो। कृष्ण महापुरुष हैं और भक्तजन उन्हें साक्षात् भगवान् मानते हैं, पर उन्होंने महाभारतका जो युद्ध कराया, यदि हम उसके परिणामपर नजर डालें, तो उन्हें देश और संस्कृतिका संहारक कह सकते हैं, पर असलमें ऐसा नहीं है। इसी तरह सूरदास असफल होकर भी महान् है और उसके मुकाबलेमें ईसाई मिल-मालिक जनसेवक सफल होकर भी हीन है। सूरदास मनुष्यको पराजयकी हीनता और निराशासे बचाकर जैसे अपने रोम-रोमसे पुकार रहा है – अरे पराजित और पिछड़े मनुष्य! उठ, अधिकारके लिए युद्ध कर। हार मिले या जीत बस तू युद्धही करता चल। युद्ध ही जीवन है, संघर्ष ही मनुष्यता है।"

"आपकी यह व्याख्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, इसमें सन्देह नहीं, पर सूरदासके साथ ही आपका दूसरा महान् पात्र गोदानका नायक होरी भी

फल ही रहा हूँ।" भावविभोर हो मैंने कहा, "मेरी शिकायत यह है
सूरदास और होरी हमारे आजके जीवनकी कुरूपता हमारे सामने
ते हैं, पर वे भविष्यका सौन्दर्य हमें नहीं दिखाते। आप हमारे सामने
दा समाज-व्यवस्था तो रखते हैं, पर हम उसे कैसे तोड़ें और फिर
समाज-व्यवस्था यहाँ स्थापित करें यह नहीं बताते! मैं अपनी बात
तरह भी रख सकता हूँ कि आप हमें आजका बुरा रूप तो दिखाते हैं
उसके विरुद्ध क्रान्तिका सन्देश नहीं देते!"

बाबूजी एकदम गम्भीर हो गये, तब सँभले। कहा, "तुम्हारी बात
क है और मैं मानता हूँ कि उसमें सार है, पर क्रान्ति कोई तमाशा नहीं
कि जब चाहा दिखा दिया। उसके लिए वातावरण चाहिए। इस
तावरणके दो रूप हैं। पहला यह कि जनता आजकी बुरी दशाको सूब
न ले और दूसरा यह कि वह उससे ऊब उठे।

मैंने सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि और दूसरे कई उप-
ासोंमें आजकी बुरी दशा जनताके सामने रखी और गोदानमें उससे ऊब
ा की। अब मैं ठेठ क्रान्तिपर आ रहा था कि यहाँ चला आया और
ह काम बीचमें रह गया।

बात यह कि अतीतकी कली खिलकर वर्तमानका फूल बनती है और
ही फूल भविष्यका फल है। कलीमें फूल है और फूलमें फल। इसी तरह
ने भी वर्तमानकी तसवीर खींचते समय भविष्यके इंगित किये हैं। तुम्हें
द होगा – जमींदारोंकी जब्तीके बारेमें मैंने अपनी एक कहानी –
तशा' – में एक देहाती और शिक्षितमें यह संवाद कराया है :

"लोग कहते हैं कि यहाँ सुराज हो जायेगा, तो जमींदार न रहेंगे।"

"जमींदारोंके रहनेकी जरूरत ही क्या है? यह लोग गरीबोंका खून
चूसनेके सिवा और क्या करते हैं?"

"तो क्यों सरकार, सब जमींदारोंकी जमीन छीन ली जायेगी?"

"बहुत-से लोग तो खुशीसे दे देंगे। जो लोग खुशीसे न देंगे, उनकी जमीन छीननी ही पड़ेगी।"

एक दूसरी कहानी – 'भाड़ेका टट्टू' – में उसका पात्र रमेश सोचता है : "मनुष्य क्यों पाप करता है? इसीलिए न कि संसारमें इतनी विषमता है। कोई तो विशाल भवनोंमें रहता है और किसीको पेड़की छाँह भी मयस्सर नहीं। कोई रेशम और रत्नोंसे मढ़ा हुआ है, किसीको फटा वस्त्र भी नहीं। ऐसे न्यायविहीन संसारमें यदि चोरी, हत्या और अधर्म है, तो यह किसका दोष है?"

मेरे साहित्यमें इस तरहकी पंक्तियाँ जगह-जगह बिखरी पड़ी हैं, इसलिए मेरे बारेमें यह कहना कि वर्तमानकी कुरूपताके प्रदर्शनमें लीन होकर मैंने भविष्यके सौन्दर्यकी उपेक्षा की, इन्साफ नहीं है – वैसे हरेक आदमी अपनी रायके लिए आजाद है!"

वे अब काफ़ी गहराइयोंमें थे। मैंने उन्हें एक सीढ़ी और उतारते हुए कहा, "आपकी यह बात ठीक है, पर यह भी क्या ठीक नहीं है कि एक महान् कलाकार होते हुए भी आपमें प्रचारकपन इतना उग्र है कि वह आपकी कलमपर छा गया है। आप अपने समयके जीवनके विशेषज्ञ हैं, पर क्या हमारे उस जीवनमें ग़रीबी, बेकारी, गुलामी और सामाजिक कुरीतियाँ ही हैं, प्रेम, चाह और आकर्षण आदि नहीं है। फिर भी आपने इनकी उपेक्षा ही की?"

जरा उभरकर वे बोले, "यह बात कई तरहसे बार-बार दोहरायी गयी है, पर इस बारेमें मैं एक बात पूरे जोरके साथ कहना चाहता हूँ, वह यह कि कला या साहित्यको मैं स्वर्गका फूल नहीं मानता – इसी धरतीकी एक चीज मानता हूँ और दूसरी चीजोंकी तरह उन्हें भी उपयोगिताकी तराजूपर तोलता हूँ। धरतीकी चीजें धरतीकी उपेक्षा नहीं कर सकतीं। आज हमारे चारों ओर हीनता और विषमताका जो हाहाकार मचा हुआ है, उसके बीच बैठकर प्रेमके गीत गाना न कला है, न साहित्य –

वह जीवनका कोढ़ है और मैंने अपने उपन्यासोंमें उसे कोढ़के रूपमें ही चित्रित किया है। इससे मेरे उपन्यासोंका आकार बढ़ गया है और विवरण दोहरे हो गये हैं। मेरे कला-पारखी आलोचकोंको इससे खेद भी हुआ है, पर मैं क्या करूँ। मैं मजबूर हूँ कि सत्यकी ओरसे आँखें नहीं मूँद सकता।"

मैंने नम्र होकर कहा, "आपकी इस भावनाके प्रति मैं हार्दिक सम्मान प्रकट करता हूँ और मुझे यह स्वीकार करनेमें जरा भी झिझक नहीं कि भावी पीढ़ियाँ राष्ट्रके नव-निर्माताओंकी पंक्तिमें आदरके साथ आपका नाम स्मरण करेंगी, पर इस दिशामें मुझे एक निवेदन अवश्य करना है। वह यह कि आपके पात्र कभी-कभी खूब छलाँगें मारते हैं।"

हँसकर बोले, "कैसी छलाँगें? जरा समझाओ, तो मैं उनपर कुछ कहूँ।"

मैंने कहा, "आपके पात्रोंमें बहुत बार क्रम-विकास नहीं होता। अभी जो डरपोक है, वह पल-भर बाद साहसका अवतार हो जाता है। जेवरों-पर जान देनेवाली स्त्री कुछ ही दिनोंमें ऐसी निस्पृह होती है कि हमें क्रान्तिके महिला-चरित्र भी मात मान जाते हैं। घटनाओंके क्रम-विकासमें भी यही बात है। छोटी-सी घटनाका आप इतना बड़ा तूमार बाँधते हैं कि चौराहेपर तमाशा दिखानेवाले जादूगर भी सिर झुका लेते हैं। इन्हीं मैं उल्लेख करता हूँ।"

"ओह, यह मतलब है आपका?" वे बोले, "ये दो अलग-अलग बातें हैं, इनका उत्तर भी मैं अलग-अलग दूँगा, मानव-पात्रोंमें यह परिवर्तन वह जादू है, जिसे मैं मनुष्यमें देवत्व कहता हूँ और देवत्व चमत्कारिताका भण्डार है, इसलिए एक पात्रमें यह सहसा परिवर्तन कोई असम्भव बात नहीं। वाल्मीकिको डाकूसे ऋषि होनेमें कितनी देर लगी। फिर मेरे ही पात्र बदल जाते हैं, तो क्या बुराई है। दूसरी बातके बारेमें मुझे यह कहना है कि परिणामका यह अतिरञ्जना – उसे बढ़ाकर कहना – समाज-को उस बुराईके किसी खिलाफ़ बनाती सहज है, ऐसा महसूस कर देता है

कि पाठकपर प्रभाव पड़े।"

मैंने बीचमें ही कहा, "पर इसमें यथार्थता तो नहीं रहती बाबूजी!"

"तो यथार्थका हूबहू खींचकर रख देना ही तो कला नहीं है।" वे बोले, "मैं पूरे ज़ोरसे कहता हूँ कि केवल यथार्थकी नकलका ही नाम कला नहीं है। फिर यथार्थका यथार्थ रूप दिखानेसे फ़ायदा ही क्या? वह तो हम अपनी आँखोंसे देखते ही हैं। कुछ देरके लिए तो हमें इन कुत्सित व्यवहारोंसे दूर रहना चाहिए, नहीं तो साहित्यका मुख्य उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है।"

मैंने ज़रा व्यक्तिगत होते हुए पूछा, "यह आश्चर्यकी बात है कि आप ईश्वरमें विश्वास नहीं करते पर आपके साहित्यमें मानवमें देवत्व दर्शनके सचमुच अनेक प्रयत्न हैं। यह क्या बात है?"

बहुत ज़ोरसे हँसे और तब बोले, "ईश्वरमें विश्वासकी ज़रूरत पड़ती ही उन्हें है, जो मानवमें देवत्वका दर्शन नहीं कर सकते। बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता। उसमें कहीं न-कहीं देवता अवश्य छिपा है; यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। मैंने अपनी क़लमसे इस सत्यको ही कहीं-कहीं प्रकाशित कर दिया है।"

"आपने बड़ी कृपा की जो मेरे प्रश्नोंके उत्तर दिये। यदि आप एक और प्रश्नका भी उत्तर दें तो आभारी हूँगा।" नये प्रश्नके लिए मैंने ज़रा जगह बनायी तो सरस होकर बोले,

"मिश्रजी, आप आभारी न भी हों तो भी उत्तर तो दूँगा ही, पर पूछिए संक्षेपमें, क्योंकि मेरे जानेका समय अब हो गया है।"

मैंने तीरको आलपीन बनाकर पेश किया—"कुछ लोग कहते हैं कि आपने 'रंगभूमि' का प्लाट थैकरेके 'वैनिटि फेयर' से लिया है। क्या यह ठीक है?"

उनके चेहरेपर गम्भीरता बरस पड़ी। बोले, "मुझे 'रंगभूमि' का बीजांकुर एक अन्धे भिखारीसे मिला, जो मेरे ही गाँवमें रहता था। एक

ज़रा-सा इशारा, एक ज़रा-सा बीज लेखकके मस्तिष्कमें पहुँचकर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उसपर आश्चर्य करने लग जाते हैं। इंग्लैण्डके प्रसिद्ध उपन्यासकार डिकेंसने शिकरम गाड़ीके मुसाफ़िरोंकी ज़बानसे 'पिकविक' नाम सुना और बस अपनी अमर हास्य कृति 'पिकविक-पेपर्स' की रचना की। श्रीमती जॉर्ज इलियटने अपने बचपनमें एक फेरी-वाला कन्धेपर थान रखे देखा था। इसीपर उन्होंने 'साइलेन्स मार्नर' नामक उपन्यास रचा। मर्मस्पर्शी रचना 'स्कारलैट लेटर' के बीज हाथार्न-को एक पुराने मुकदमेकी मिसलसे मिले। दो सहेलियोंकी इस बहसमें कि उपन्यासकी नायिका सुन्दर हो या नहीं 'जेन आयर' की सृष्टि हुई।"

ज़रा रुककर बोले, "किसी पुस्तकसे नयी रचनाकी नींव मिल जाना भी कोई असाधारण घटना नहीं है। हालकेनने लिखा है कि मुझे बाइ-बिलसे प्लाट मिलते हैं। बेलजियमके विख्यात नाटककार मेटरलिंकका 'मोनावेन' नाटक ब्राउनिङ्‌की कवितासे प्रेरित है और 'मेरी मैगडालीन' एक जर्मन कवितासे। अगर कोई यह दावा करे कि मैं वह लिखूँगा, जो कहीं किसीने किसी भी रूपमें कभी नहीं लिखा, तो मेरा ख़याल है कि उसकी रचना बस अद्‌भुत ही होगी।"

यह सब उन्होंने इतने भावावेशमें कहा कि मैं भावविभोर हो गया। ज़रा सँभला तो देखा, चौकीपर मेरे सामने 'रंगभूमि' खुली हुई थी— बाबूजी न थे। क्या वे आये थे? क्या वे चले गये?

■

लखनऊ कांग्रेसके उन दिनोंमें

किसी तरह मैं ८ अप्रैल १९३६ को सुबह लखनऊ पहुँच गया। मोती-नगर, धूलका अपार भण्डार! ओह, प्लेगियोंका यह पुराना बीमार यहाँ कैसे जीयेगा! अचानक हमारे जिलेके यशस्वी राष्ट्रकर्मी वैद्य श्री रतनलाल 'घातक' मिल गये। वे पास ही आर्यनगरके एक मकानमें ठहरे हुए थे। वहीं डेरा जमाया। लखनऊ कांग्रेस और घातकजीका साथ; सौभाग्यकी बात थी। घातकजी सिपाही भी हैं और साहित्यिक भी, मर मिटनेवाले बलिपन्थी, और मनहूसियतसे कोसों दूर, सरसताके स्रोत!

प्रयागसे जवाहरलालजी आदिके आनेकी खबर गुप्त रखी गयी थी, पर हमें पता चल गया। स्टेशन पहुँचे; देखा पण्डितजी दूसरे नेताओंके साथ थर्ड क्लाससे उतर रहे हैं। साधारण धोती, चप्पल, कुरता और वही मुसलमानी समयकी बण्डी, जिसे इसी जवाहरलालके नामसे इस युगमें 'जवाहर बण्डी' का सुन्दर नाम मिल गया है। फ़ौरन लाहौर कांग्रेसका राष्ट्रपति जवाहर याद आ गया। वह सुरमई अचकन, वह चूड़ियोंदार सिला हुआ पायजामा और उसे ही लेकर लाहौर पहुँचनेवाली वह स्पेशल ट्रेन; कितना परिवर्तन हुआ है इस आदमीमें!

भारतमें समाजवादके प्रवर्तक पण्डित जवाहरलालपर, मैंने देखा, गान्धीवादका प्रभाव झलक रहा है। बापू भी चाहते हैं मुसाफ़िरोंका पूरा सुभीता और नेहरूजी भी, पर कानून हमारे हाथोंमें नहीं। इसलिए नहीं सम्भव है आज यह सब, तो हम अपने प्राप्त सुभीतोंको 'स्वयं' परित्याग कर अपने समाजके नीचेके स्तरमें मिल तो सकते ही हैं। मुझे दीखा, दोनों महापुरुष एक ही मोटरमें बैठे जा रहे हैं, फोर्डकी मोटरमें भी और समाज-

व्यवस्थाकी मोटरमें भी। दोनोंके लक्ष्यमें भेद नहीं है और अभी तो रास्तेमें भी भेद नहीं है।

राष्ट्रपतिका जुलूस

चारों ओर पैदल जुलूसकी चर्चा थी। जवाहरलालजीने घोड़े या गाड़ीपर बैठनेसे इनकार कर दिया था, पर समझमें ही न आता था कि कैसे कण्ट्रोल होगा यह। पिछले आठ वर्षोंमें सैकड़ों जुलूस निकाले हैं। ओह, जनताका वह रेला! क्या वह कण्ट्रोलकी चीज़ है और वह भी सिर्फ जवानसे! स्वयंसेवक दलके एक कप्तानपर मैंने अपनी बेचैनी प्रकट की। वे मुस्कराकर बोले, "क्यों, कण्ट्रोलमें क्या आफत है? जैसे हिटलर-मुसोलिनीका जुलूस निकलता है, वैसे ही मिस्टर नेहरूका क्यों नहीं निकल सकता।" मैंने गौरसे उनकी तरफ देखा और अपने दिलमें उनके जोशकी क़द्र की, पर मेरी बेचैनी ज्योंकी त्यों रही।

साढ़े पाँच बजे जुलूस निकलना था, पर चार बजेसे पहले ही अमीनाबादका वह विशाल प्रांगण खचाखच भर गया। कितने आदमी थे? क्या कहूँ, बस आदमी-ही-आदमी थे — चौकमें, पार्कमें, छतपर, छज्जोंपर, यहाँ तक कि खम्भोंपर, वृक्षोंपर भी। वहाँ सिर्फ़ दो ही आदमियोंकी माँग थी — पण्डित जवाहरलाल और गजरेवाला। कितने भी दामपर गजरा बिक सकता था और कितने भी धक्के खाकर जवाहरलालकी एक झाँकी ली जा सकती थी। भीड़ इतनी और ऐसी कि पास खड़े एक बुजुर्ग मुसलमानने कहा, "अल्लाह, तेरी कुदरत कि बड़े-बड़े लाटों और बादशाहोंके जुलूस यहाँ निकले, पर कभी ऐसी रौनक़ नहीं हुई!"

जुलूस शुरू हुआ। कानपुरके श्री रघुबरदयालु गुप्त और उनके दो शिष्य घोड़ोंपर बड़े आगे-आगे रास्ता कर रहे थे, पर वे रास्ता करते और वह काईकी तरह भर जाता! बात साफ़ थी कि लोग जवाहरलालको देखने आये थे और वे दीख न रहे थे। मुश्किलसे ३००-४०० गज चलकर

पण्डितजी अमीनाबादमें आये। बस यहीं सब नियम टूट गये और भीड़के रेलेमें पण्डितजी कुचले-से जाने लगे। झुँझलाकर उनका चारों तरफ़ देखना बड़ा मधुर था, पर इसे कौन देखता ?

स्वयंसेवकोंकी दशा बड़ी दयनीय थी; जैसे हारी हुई फ़ौजके सिपाही जान लेकर भागे जा रहे हों। स्वयंसेवक और उनके दलपति कुछ सचेष्ट रहते, तो पण्डितजीको लाठियोंके घेरेमें रख सकते थे और अमीनाबादसे मोतीनगर बहुत दूर नहीं था, पूरे रास्ते मोटे रस्सोंसे रास्ता बनाया जा सकता था। ख़ैर, इस घटनाने बताया कि कांग्रेसको एक स्थायी, सुसंगठित स्वयंसेवक दलकी कितनी आवश्यकता है और हमारे राष्ट्रीय नेताओंको इधर कितना ध्यान देना चाहिए।

प्राय: पचास क़दम चलने ही पण्डितजीको घोड़ेपर चढ़ना पड़ा। इससे भीड़ काफ़ी शान्त हुई। गोरे मुख, प्रसन्न और नम्र मुख-मुद्रा, सफ़ेद मोती-से गहरे और सधी हुई सवारी; देखते ही लायक़ दृश्य था। चारों ओरसे गजरे बरस रहे थे, पर पण्डितजी सचेष्ट थे कि कोई गजरा नीचे न गिरे और किसी भाई-बहनके हृदयको ठेस न लगे।

एक स्थानपर पण्डितजीके परिवारके लोग बैठे जुलूस देख रहे थे। उन्हें देखकर मुझे लाहौरकी वह दूकान याद हो आयी, जहाँ बैठकर १९३० में स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल नेहरू, श्रीमती स्वरूप रानी नेहरू और श्रीमती कमला नेहरूने जवाहरलालजीका वह शाही जुलूस देखा था। जवाहरलालका घोड़ेपर-से सिर झुकाकर माता पिताको वन्दना, माता-पिताके चेहरेका उल्लास, हृदयके बादशाह मोतीलालजीका वह अशर्फ़ी बिखेरना, जवाहरलालकी वह मीठी झुँझलाहट, कमला नेहरूकी वह गर्व-भरी मुखमुद्रा, पति-पत्नीकी आँखों-ही-आँखोंमें होनेवाली वे बातें और चारों ओर बिखरनेवाली वह मन्द-मधुर मुसकान; याद करके जी तड़प उठा ! ओह, नेहरूपरिवारका बलिदान !!

विषय-निर्वाचिनी समिति

१० तारीखको दोपहर दो बजेसे विषय-निर्वाचिनी समिति (सब्जेक्ट कमेटी) की बैठक हुई। श्री राजेन्द्रप्रसादजीने पण्डित जवाहरलालजीको चार्ज दिया। लाहोरमें पण्डितजीने यही चार्ज स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल नेहरूसे लिया था और माता स्वरूपरानीने उनका माथा चूमकर, उनकी बलैयाँ ली थीं, जिसे देखकर हजारों आँखें तर हो गयी थीं, पर आज बूढ़ी माताका हृदय जर्जर है, व्यथित है – पतिके अभाव और बहूकी मृत्युसे वे समारोहमें कैसे भाग लेतीं!

पण्डितजीने जब धन्यवादमें कहा, "मैं (कमला नेहरूकी विदेशमें मृत्युके बाद) सान्त्वनाके लिए भारत माताकी गोदमें आया, एक बालककी तरह। आपका प्रेम पाकर मैं कृतार्थ हुआ। फिर भी भीतर कुछ सूना-सूना लगता है।" सुनकर सहृदयोंके हृदय द्रवित हो गये।

आरम्भमें ही एक संशोधन लिखनेके लिए उन्हें कागज-पेन्सिलकी जरूरत पड़ी, पर मंचपर वह था नहीं। पण्डितजीने कहा, "कैसा इन्तजाम है रिसेप्शन कमेटीका! है कोई यहाँ रिसेप्शन कमेटी (स्वागत-समिति) का मेम्बर?" कोई वहाँ न था, बोले, "डाँट-फटकार सुननेके लिए किसीको तो रहना ही चाहिए।"

बात यह है कि पण्डितजी स्वयं इतने सावधान हैं – अपना छोटेसे छोटा काम इतनी सतर्कतासे करते हैं, जरा भी कमी वे बरदाश्त नहीं कर सकते। उनकी स्फुरणा और सन्नद्धता भी असाधारण है। उनके आसनके सामने बैठे-बैठे बोलनेका माइक लगा था। राजेन्द्रबाबूने उनसे उसपर बोलनेको – बैठे-बैठे ही बोलनेको – कहा, तो बोले, "बैठकर! बन्धनमें बोलना तो मुझसे नहीं हो सकता!" बाप रे, बन्धनोंका इतना तीखा विद्रोही यह जवाहरलाल!

वे बराबर ऊँचे लाउडस्पीकरपर, खड़े होकर ही बोले। किसी

वक्ताका नाम वे पुकारते और उनके आते ही लाउडस्पीकरका मुँह उस वक्ताकी तरफ कर देते। वक्ताको मशीनसे कितनी दूर खड़ा होना चाहिए, उसमें ज़रा भी फ़र्क रहता, तो उसे हाथसे ठीक जगह खड़ा करते। लाउडस्पीकरवालोंका आदमी इस कामके लिए नियुक्त था, पर जबतक वह उठता, पण्डितजी अपना काम पूरा भी कर डालते!

उनकी कमरके पीछे एक मोटा और लम्बा तकिया था — कमरके सहारेके लिए, पर जवाहरलालजी कमरके 'सहारे' की ज़रूरत कहाँ है? वे सदा उसके ऊपर बैठते थे — तनकर। हरारतकी हालतमें एक दिन वे साढ़े आठ घण्टे बैठे, बैठे क्या, लगभग खड़े ही रहे। तीन दिन सब्जेक्ट कमेटी और दो दिन खुला अधिवेशन, इस तरह पूरे पाँच दिन मैंने उन्हें बहुत नज़दीक और गहराईसे देखा, पर इस इतने लम्बे समयमें उन्होंने दो बारसे ज़्यादा जम्हाई नहीं ली। ऐसा सजग है हमारा जवाहरलाल!

बोलनेवालेके एक-एक शब्दपर वे ध्यान रखते थे। वह ज़रा बहका कि वे तमककर उठे जैसे शेर अपनी गुफासे छलाँग मारकर निकले। दलीलों के मायाजालमें वे नहीं फँसते, न जनसाधारणको फँसने देना चाहते हैं। किसान और मज़दूरोंके प्रतिनिधि उनकी संस्थाओंकी मार्फ़त लिये जायें, श्री अच्युत पटवर्धनके इस संशोधनका समर्थन करते हुए श्री विश्वम्भर-दयालु त्रिपाठीने कहा, इस प्रस्तावमें एक 'प्रिएम्बल' है और उन्होंने बार-बार इस 'प्रिएम्बल' शब्दको दोहराया। पण्डितजीने फ़ौरन टोका, "यह 'प्रिएम्बल' क्या होता है, मेरी कुछ समझमें नहीं आता। वाक़ई क़ानूनी दिमाग़ बहुत तेज होता है।"

श्रीमती पार्वती देवी बोलने आयीं — "मुझे कोई स्पीच नहीं देनी है, पर एक घटना हो गयी है....." पण्डितजीने फ़ौरन टोका — "लेकिन उस घटनाका सम्बन्ध इस प्रस्तावके साथ हो।"

अनुशासन जवाहरलालजीकी अपनी विशेषता है। क्या मजाल कि कोई ज़रा भी चूँ कर सके। श्री नरीमान बोल रहे थे कि श्रीमती कमला

देवी चट्टोपाध्यायने उन्हें बीचमें टोक दिया। फिर क्या था, वही फटकार "ऑर्डर, ऑर्डर! आप कौन हैं मना करनेवाली? मैं जो यहाँ हूँ।"

बात-बातमें झुँझलाहट, हर झुँझलाहटपर एक झपट और हर झपटपर एक मीठी मुसकान, एक-एक मिनिटमें तीन-तीन झाँकियाँ और मामला समाप्त — सोचता हूँ जवाहरलालजीके व्यक्तित्वकी यह भी एक बड़ी खूबी है।

श्री अमृतलाल सेठको पुकारा गया संशोधनका समर्थन करने, पर वे पेश करने लगे एक नया संशोधन। पण्डितजीने नये संशोधनका नोटिस चाहा, तो उन्होंने कहा, "मैं कल अपना संशोधन कृपलानीजीको दे चुका हूँ, इसलिए मैं उसे पेश कर सकता हूँ।"

अध्यक्षका यह प्रतिवाद और फिर सेठका अध्यक्षता! पण्डितजी तमक-कर इतनी तेजीसे उठे और उनकी तरफ बढ़े कि सचमुच वे घबरा गये और उल्टे पैरों (ज़रा भी अतिशयोक्ति नहीं) भागकर मंचसे नीचे कूद गये। विख्यात पार्लमेण्टेरियन श्री सत्यमूर्तिने इस व्यवहारका बहुत फर्राटे-दार प्रतिवाद किया और अन्तमें कहा, "अध्यक्षको जेण्टलमैन तो होना ही चाहिए।"

मामला संगीन हो गया। सबके मनमें एक ही प्रश्न—अब पण्डितजी क्या करेंगे? क्या कहेंगे? पण्डितजी उठे, मुसकराये और बोले, "इस हाउसमें मिस्टर सत्यमूर्ति ही सबसे बड़े जेण्टलमैन हैं और मैं तो बिलकुल जेण्टलमैन (सभ्य आदमी) नहीं हूँ।"

श्री सत्यमूर्तिने अपने ढंगपर उन्हें असभ्य कहा था, और उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। स्थिति यह कि अब हाउस इसे स्वीकार कर ले, तो विधानकी मर्यादा यह कि जवाहरलालजी तुरन्त त्यागपत्र दें और अपना आसन खाली करें। विधानशास्त्री श्री सत्यमूर्तिने खड़े होकर कहा, "हमारे अध्यक्ष निश्चित रूपसे जेण्टलमैन हैं।" श्री अमृतलाल सेठने भी उन्हें जेण्टलमैन कहा। इसपर पण्डितजी बहुत ज़ोरसे हँसे और तब बोले,

नहीं, मैं जेण्टलमैन नहीं हूँ और यही एक दिक़्क़त है।" उनकी हँसीमें सारा विरोध आप-ही-आप घुल गया, बह गया।

जवाहरलाल चौकन्ने इतने कि प्रतिनिधियोंकी जेब तककी खबर रखें। प्रस्ताव-पत्र कम थे और प्रतिनिधियोंमें माँग थी, पण्डितजीको एक पत्र मिला। उन्होंने कहा, "मेरे पास एक है, जो चाहें ले लें।" एक प्रतिनिधिने माँगा, तो बोले, "आपके पास तो है वह।" प्रतिनिधिने कहा, "वह दूसरा है।" पर वे कहाँ चूकनेवाले। बोले, "नहीं, वही है। ज़रा देखिए तो महाशय!" वाक़ई यह वही पत्र था। कमाल यह कि पण्डितजी और प्रतिनिधिके बीचमें प्रतिनिधियोंकी कई क़तारें थीं।

तुरन्त निर्णय जवाहरलालजीके सभापतित्वकी विशेषता थी। डॉक्टर पट्टाभि सीतारमैयाने कांग्रेस-वर्किङ् कमेटीके पदग्रहण-सम्बन्धी प्रस्तावका विरोध किया; यद्यपि वे खुद भी वर्किङ् कमेटीके मेम्बर थे। उनका विरोध परम्पराके विरुद्ध था। श्री पुरुषोत्तमदास टण्डनने इसका प्रतिवाद किया। श्री पट्टाभिने मामला प्रधानपर छोड़ दिया। सबने आश्चर्यसे सुना कि पण्डितजीका निर्णय परम्पराके विरुद्ध है — पट्टाभिके अनुकूल! इसमें सन्देह नहीं कि यह निर्णय पण्डितजीके सुलझे हुए मस्तिष्कका प्रतिबिम्ब था। इसके बाद तो उन्होंने दो-तीन बार प्रस्तावपर बहसमें पहले ही अपनी सम्मति प्रकट कर — प्रस्तावके विरुद्ध अपनी निजी सम्मति बताकर परम्पराको भंग किया। सचमुच यह परम्परा-भंग बहुत सुन्दर था; जैसा कि कलकत्ता-कांग्रेसमें स्वयं जवाहरलालजीने एक बंगाली युवकके आक्षेप करनेपर कहा था कि कभी-कभी बन्धनहीन हो जाना भी सभापतिकी सुन्दरता है। जवाहरलालजी तब कांग्रेसके जनरल सेक्रेटरी थे और एतराज़, कांग्रेस-अध्यक्ष श्री मोतीलाल नेहरूपर किया गया था।

पण्डित जवाहरलालके खड़े होनेकी भी एक अदा थी। शरीर तना हुआ, पैर ठुके हुए-से, बायाँ हाथ बण्डीकी जेबमें और दायाँ गलेके बटनपर या फिर लाउडस्पीकरके चक्करको पकड़े हुए।

अँगरेजीका सब्जेक्ट कमेटीमें काफी जोर था। कुछ लोग तो शौकिया भी अँगरेजी बोलते थे। पूनाके श्री शंकरराव देवने एक उपसमितिके बारेमें हिन्दीमें कुछ पूछा। कृपलानीजीने उसका अँगरेजीमें जवाब दिया। स्वामी सहजानन्द सरस्वतीके टोकनेपर कृपलानीजीने भूल स्वीकार की। पण्डितजीने श्री देवसे पूछा, "आप हिन्दीमें बोलिएगा ?" उत्तर मिला — "हाँ, हाँ, मैं तो जहाँतक होती मेरी टूटी-फूटी हिन्दीमें ही बोलते !" कितनी मधुर थी यह टूटी-फूटी हिन्दी!

पण्डितजी साधारणतया हिन्दीमें ही बोले। पद-ग्रहणपर उन्होंने अपनी राय दी, तो पहले हिन्दीमें और पीछे अँगरेजीमें। प्रस्ताव तो सभी अँगरेजीमें थे और उनका अनुवाद भी न किया जाता था। पहले ही दिन शामको मैंने टण्डनजीसे इसकी शिकायत की, "एक तरफ तो आप कांग्रेस-अधिवेशनमें ज्यादासे ज्यादा किसानोंको बुलाते हैं और दूसरी ओर यह उम्मीद करते हैं कि हरेक प्रतिनिधि अँगरेजी जाने।" टण्डनजीने पण्डितजीसे कहा, इसके बाद बराबर अनुवाद हुआ और खुले अधिवेशनमें भी यह प्रथा चालू रही।

आगामी चुनावोंके बाद कांग्रेस पदग्रहण करे या नहीं, यही इस अधिवेशनका मुख्य प्रश्न था। कांग्रेस हाई कमाण्डका मूल प्रस्ताव था कि चुनाव लड़ा जाये, पर पदग्रहण करनेके बारेमें अभी विचार न किया जाये। गरम दल चाहता था कि पदग्रहण न करनेकी बात साफ कह दी जाये और नरम दल चाहता था कि पदग्रहण करनेकी बात साफ कह दी जाये। यही टक्कर थी।

इस प्रस्तावपर खूब गरमी। बहुत-से संशोधन आये, बहुत-से भाषण हुए, पर दो भाषण विशेषतः उल्लेखनीय थे। पहला श्री आचार्य नरेन्द्रदेवका प्रस्तावके विपक्षमें और दूसरा श्री राजेन्द्रप्रसादका पक्षमें। हाँफते-काँपते-से आचार्यजी मंचपर आये। शरीरमें हड्डियोंका एक ढाँचा, दमेके रोगसे रोगम जर्जर, चेहरेपर मुर्दनी छायी हुई। उनका लखनऊ

आना ही चाहती थी, इसलिए भी और इस दशामें भी, फिर बोलना। श्री जयप्रकाशनारायणने कहा, "बैठकर बोलिए।" उन्होंने मना किया, तो मुस्कराते लिखकर जयप्रकाशजीने कहा, "तो मत बोलिए।" इस लिखतीमें कितना आदर था, कितना सम्मान, कितनी मिठास।

कुरसी आयी, तो पण्डितजीने दोनों हाथोंसे पकड़कर उन्हें उसपर बैठा दिया। मेरे पास ही एक अंगरेज पत्रकार बैठा था। मुँह बनाकर बोला, "ओह, बेचारा बच्चा!" उसका मतलब था कि यह बीमार क्या बोलेगा। मैंने उससे कहा, "कृपया अपने कानोंको सँभालें।" आचार्यजी बोले, तड़पकर बोले, तड़पाकर बोले। शरीर क्षीण, पर ऊँची आवाज; हृदय जो उफनता हुआ है। क्या नफीस उर्दू, सरिताकी लहर-सा प्रवाह, विचारोंकी कड़ियाँ और भावनाओंकी लड़ियाँ कि एकके बाद एक पिरोई हुई — ख्यालात और जज़्बात का एक अजब मजमुआ। सचाई यह कि भाषा और प्रवाहकी दृष्टिसे पूरी लखनऊ काँग्रेसमें यही सर्वोत्तम भाषण था। उस अंगरेज पत्रकारने कहा, "कुछ-कुछ समझा, पर बहुत सुन्दर, जैसे झरना!"

इस प्रस्तावकी बहसमें वर्किङ् कमेटीपर बहुत प्रहार हुए। उसे बुरे शब्दोंमें बेईमान और प्रतिगामी कहा गया। इस सबका जवाब देते राजेन्द्रबाबूने जो भाषण दिया, उसमें ओज भी था और पोज भी। प्रवाह ऐसा कि कानोंमें मिश्री घुले और प्रभाव ऐसा कि तख्ता उलट दिया। समाजवादियोंको उम्मीद थी कि प्रस्ताव पास भी होगा, तो पाँच-सात वोटसे, पर बहुत अधिक वोटोंका अन्तर रहा। बम्बईके एक समाजवादी नेताने मुझसे कहा, "गजब कर दिया आज राजेन्द्रबाबूने!" सचमुच प्रभावकी दृष्टिसे यही काँग्रेसका सर्वोत्तम भाषण था। डॉ० पट्टाभि इस प्रस्तावपर तटस्थ रहे, यह एक खास बात थी।

सब्जेक्ट कमेटीमें होनेको तो बहुत थे, पर उल्लेखनीय हैं : सर्वश्री अच्युत पटवर्धन, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, डॉ० पट्टाभि, सेठ गोविन्ददास,

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', स्वामी सहजानन्द, सम्पूर्णानन्द, अवधेश प्रताप सिंह, वरदाचरन् चेट्टी, [illegible], जमनालाल सेठ, डॉक्टर खान साहब, सत्यमूर्ति, डॉ० प्रफुल्लचन्द्र घोष, आचार्य कृपलानी, राजेन्द्रबाबू, जयरामदास, दौलतराम, शंकरराव देव, विश्वम्भर दयाल त्रिपाठी और टण्डनजी।

डॉक्टर पट्टाभि इसकी उलट निराले। मोटी धोती, ढीला कुरता, मद्रासी ढंगका लपेटा हुआ गमछा कन्धेपर और विशाल पकी खोपड़ी। देखनेमें शान्त और बोलनेमें तेज़, जैसे टूटी हुई बोतलका झरना। जो बात दूसरे घण्टे-भरमें कहें, वे दस मिनिटमें। अध्ययनका भण्डार और विज्ञानके पण्डित, कांग्रेसमें इस युगके श्री विजयराघवाचारी।

श्री पटवर्धन, देखनेमें सरल, बातचीतमें मस्त और भाषणमें ओजस्वी। स्फुरणाकी मूर्ति, हर बातमें सवाल, हर सवालपर जवाब, जैसे केन्द्रीय असेम्बलीमें सत्यमूर्ति!

श्री राजेन्द्रबाबू, सीधे-सादे, बिना लम्बे, उससे ज्यादा गहरे। स्थिर अपने स्थानके लिए निश्चिन्त। हर सवालके लिए तैयार, पर हर उचित मौक़ो मुसकराहटसे भरी। जनताकी आँखोंकी ठण्डक और जनतामें-से ही एक, पर अत्यन्त सुलझे हुए दिमाग़के आदमी। अपनी धुनके धुनी और अपनी बातके पक्के। कांग्रेसमंचपर गान्धीजीकी व्यवहार-पद्धतिके सरक्षक और प्रभावपूर्ण प्रतिनिधि।

डॉक्टर खान, सिलबिल्ला-सा भरे बदनका पठान। कपड़ोंमें सादा, चेहरेपर बालकों-सी सरलता। सबसे मिलनेको तैयार, सबका अपना हो। खरा सिपाही, कम बोलनेवाला, पर करारी बातका कहैया और देशकी गुलामीको हर घड़ी महसूस करनेवाला।

सत्यमूर्ति, साधारण धोती, आधी आस्तीनकी कमीज, गलेमें साफा, नंगे पैर, नंगे सिर, बिलकुल काशीके किसी मन्दिरका पुजारी-सा। अपने अख़बारोंमें छपे फ़ोटोसे बिलकुल अलहदा। अंगरेज़ीका अच्छा वक्ता, पार्लमेण्टरी टोन, गोलीकी तरह सवालका जवाब देनेवाला और निडर।

नम्बर एकका एडवोकेट और नम्बर तीनका कांग्रेसी—बोलनेमें दस साल आगे, पर स्पिरिटमें इतना ही पीछे, कहें वहसमें भारी, पर अनुभूतिमें हलका !

जयरामदास दौलतराम; स्वस्थ, सुन्दर, सादे, वाक्संयमी और गम्भीर। सदा सन्नद्ध, नेता भी और कार्यकर्ता भी।

भाषण गिनतीमें बहुत थे, पर 'टु दि प्वॉइण्ट' बहुत कम। ज्यादातर प्रतिनिधि सिर्फ बोलनेके लिए, लोगोंकी आँखोंमें आनेके लिए बोलनेवाले—हर बातपर घण्टों बोलनेको तैयार।

खद्दरके विरोधमें एक संशोधन आया। बिहारके किसान नेता श्री स्वामी सहजानन्द सरस्वतीने समर्थन किया। बोले, "मेरे किसान साथी कहते थे कि कांग्रेसमें जानेको खादीवेशके लिए चौदह रुपये चाहिए। लोगोंने मुझसे कहा कि हम लँगोटी लगाकर कांग्रेसके खिलाफ एक प्रदर्शन करना चाहते हैं। कहाँसे लायें खादी ?"

बिहारके ही एक प्रतिनिधि इसपर बहुत झल्लाये और बोले, "इन मूर्खोंको लँगोटी लगाकर प्रदर्शनकी बात तो सूझी, पर सूत कातनेकी नहीं। जिन लोगोंको जिस 'वाद'का ज्ञान नहीं, वे उसपर पता नहीं बकवास क्यों करते हैं ! एक खादी भक्तके नाते कड़वी होनेपर भी मुझे उनकी बात बहुत पसन्द आयी।

सब्जेक्ट कमेटीके पण्डालमें मंचके पीछे कुरसियोंकी एक क़तार थी। उसके अधिष्ठाता थे मौलाना अबुलकलाम आज़ाद, सरोजिनी नायडू, भूलाभाई देसाई और डॉ० अन्सारी। आज़ाद साहब बराबर सिगरेट पीते रहते और धुएँका उपहार मिलता रहता भारत-कोकिलाको ! भूलाभाई बराबर इस-उससे बातें करते और खूब हँसते, सरल और सरस। केन्द्रीय असेम्बलीके, सर एन० एन० सरकार, सर हेनरी क्रेक और सर अफ़रुल्ला, तीन-तीन सरोंके दिलकी धड़कनको बन्द कर देनेवाला यह महारथी निजी जीवनमें कितना सरल है, यह देखकर दिलको एक मीठा मानवीय स्पर्श

क्षण बोले कण मुसकाये

मिलता है। राजनीतिके बीचमें रहकर भी मौलाना और सरोजिनीकी राजनीतिके प्रति निर्लिप्तता उनकी जिन्दगियोंका करिश्मा है।

श्री ब्रिजलाल बियाणीने बरारका नाम विदर्भ रखनेका प्रस्ताव किया। प्रतिनिधि समझे ही नहीं कि विदर्भका क्या अर्थ ? अपने घरकी खबर किसीको हो, तो वह विदर्भको समझे। बहुतोंमें विदर्भ शब्दका उच्चारण हा न होता था। अंगरेजोंमें उसके स्पेलिङ् बताने पड़े, फिर भी काम न बना। डॉक्टर अन्सारीने अपनी जगह हा खड़े होकर कहा, "जरा बताइए तो यह है क्या चीज ?" लखनऊ कांग्रेसमें यह वाक्य ही उनका पहला और अन्तिम भाषण था।

कुछ भी हो, सब्जेक्ट कमेटी देखने लायक थी और मेरी रायमें कांग्रेसके अधिवेशनमें कोई जाये, तो सब्जेक्ट कमेटी जरूर देखे — कुरता-टोपी बेचकर भी उसका मँहगा टिकिट खरीदे।

सब्जेक्ट कमेटीकी बस एक बात और — दोपहरको जवाहरलालजी कुछ पीते हैं, पर इसका ध्यान कौन रखे ? स्वागत समितिको तो अपनी ही खबर न थी, कमला नेहरू, जिनका वास्तवमें यह काम था, दुर्भाग्यवश सहारमें हैं नहीं और माता स्वरूपरानी अस्वस्थ हैं। फिर यह जिम्मेदारी कौन ले ? कौन है वह, जो राजनीतिमें खोये इस जवाहरलालका खयाल रखे ? वह है स्नेहमयी बहन श्रीमती विजयालक्ष्मी पण्डित।

सब्जेक्ट कमेटीके पण्डालमें पहले दिन दोपहर बाद थर्मसमें दूध लायीं। वह ज्यादा गरम था। उन्होंने उसे ठण्डा किया और गिलासमें डाल जयरामदासजीको दे आयीं। वे मंचके कोनेपर थे। उन्होंने जब गिलास जवाहरलालजीको दिया, तो चौंककर पूछा, "कौन लाया है ?" उन्होंने विजया बहनकी तरफ संकेत किया, वे लौटी जा रही थीं। वह एक अद्भुत दृश्य। जवाहरलालजीकी कोहनी उनके घुटनेपर, गिलास हाथमें, आँखें विजया बहनकी कमरपर और मनमें विचार-ही-विचार। मैं कल्पनाके पंखोंपर चढ़, उनके विचारोंमें उतर गया, तो देखा, उन विचारोंने

स्वर्गीय कमलाकी स्मृतियाँ मचल रही थीं ?

दूसरे दिन ठीक उसी समय वे सन्तरेका रस लायीं और दे गयीं। क्या यह काम नौकर न कर सकता था ? क्या किसी स्वयंसेवकको यह काम न सौंपा जा सकता था ? नौकर भी थे और स्वयंसेवक भी, पर बहनका वह सात्त्विक ममतामय दिव्य प्रेम !

खुले अधिवेशनमें

१२ तारीखको शामके छह बजे खुला अधिवेशन शुरू हुआ। मधुर संगीतके साथ मिलकर स्वर्गीय बंकिमचन्द्रके अमर गीत वन्दे मातरम्‌की काव्यधारा अजेय हो उठी ! अद्भुत कण्ठवीणा, अपूर्ण स्वर-संगम। सचाई यह कि वन्दे मातरम्‌के सौन्दर्य और माधुर्यका इतना हार्दिक साक्षात्कार आज पहली बार ही हुआ। तन-मनकी थकान उतर गयी, ताजगीके वातावरणकी सृष्टि हुई।

भरा-पूरा बदन, चोगे ढंगसे दानों कन्धोंपर झूलती चादर, शान्त सौम्य मुखमुद्रा – नेता बिलकुल नहीं, मानव भरपूर, ये थे लखनऊ-कांग्रेसके नाम-नियत स्वागताध्यक्ष श्री श्रीप्रकाशजी। नाम-नियत यों कि जब इस पदके उम्मीदवार दो लखनौआ लीडरोंमें किसी तरह समझौता न हो सका और प्रबन्ध-व्यवस्थाको काफी मिट्टी पलीत हो चुकी, तो काशी-से श्रीप्रकाशजीको बुलाकर पदासीन किया गया। उनका भाषण उनकी ही तरह सादा, संयत और शिष्ट !

उनके बाद आये उर्दूके यशस्वी कवि श्री सागर निज़ामी और उन्होंने जवाहरलालपर अपनी कविता पढ़ी। ताकत और ताज़गीसे भरे जैसे जवाहरलाल, वैसी ही ताकत और ताज़गीसे भरी कविता, फिर सागर साहबके कण्ठकी कूक और भीना-भीना तरन्नुम-वातावरणमें कविता रच गयी, तो कवितामें वातावरण पच गया।

कविताके स्वर सिमटे कि जवाहरलालजी पीछेवाले बड़े मंचसे बाईस फीट ऊँचे छोटे मंचकी ओर चले। अब एक दृश्य-मंचसे उतरे सागर

निज़ामी एक तरफ, तो सँवारने चढ़नेकी मंज़िल जवाहरलालजी दूसरी तरफ; कवि और कर्णधार आमने-सामने। कर्णधारने हाथ बढ़ाया ही नहीं, बहुत मुहब्बतसे मिलाया और दाद दी, "आपने बहुत मौजूँ नज़्म फरमायी!" पुराने ज़मानेमें इसी लखनऊमें नवाबों-द्वारा शाइरोंको दिये हुए सब मुनाफ़े इनाम मात हो गये इस दादके दाम!

बाहर स्फुरण-सा जवाहरलाल उछलता-सा एक ही साँसमें ऊपर चढ़ आया; कुछ आँखोंमें खोया-सा, कुछ अनमना-सा छपा भाषण अखबारोंकी तरह लिपटा हाथमें, पर भाषण ज़बानी, धाराप्रवाह भावोंमें और यों जवाहरलाल ढाई घण्टे बोलते रहे और छपा भाषण हाथमें लिये हज़ारों आदमी सुनते रहे। भाषणमें अतीतका विहावलोकन, वर्तमानकी झाँकी और भविष्यके नव-प्रभातकी अरुणिमा थी, जो कांग्रेसकी यानी भारतकी राजनीतिको संसार-की राजनीतिमें पहली बार जोड़ती उभरी। इस तरह कांग्रेसके इतिहासमें एक ऐतिहासिक भाषण, छपे भाषणमें जो कुछ लिखा था, उससे बहुत ज़्यादा, पर लगा कि जवाहरलालजी जितना सोचते हैं, जितना महसूस करते हैं, उससे बहुत कम। कानपुर-कांग्रेसके बाद यह पहला ही अवसर था कि अध्यक्ष अपने छपे भाषणसे इधर-उधर जायें। वहाँ सरोजिनी नायडू अभि-भाषणसे आगे बढ़ गयी थीं और यहाँ तो जवाहरलालजी उसके हरेक अनु-च्छेदमें उससे आगे बढ़े।

राह छोड़ तीनों चलें, शायर, सिंह, सपूत।

कानपुरमें शाइर-कविका साम्राज्य था तो लखनऊमें सिंह-सपूतका। ढाई घण्टेमें छपा भाषण उन्होंने एक बार भी नहीं खोला, पर आश्चर्य क्रम और विषय ही नहीं, भाषा तक प्रायः वही रही। अन्तमें कहा, "ज़रा इसे देख लूँ कि कुछ रह तो नहीं गया!" और उलट-पुलटकर बोले, "नहीं, कुछ नहीं!" और जनताका अभिवादन कर, तालियोंकी गड़गड़ाहट-में वे वेदीसे उतर अपने स्थानपर चले गये।

उनके आसनके पास ही गान्धीजी बैठे थे। उन्होंने जवाहरलालको

थपथपाया और प्यारसे उनकी तरफ देख मुसकराये। यह उनके भाषणकी स्वीकृति थी। पण्डितजीने माइकपर कहा, "काम तो अभी और भी है पर पहला काम है यह कि हम महात्माजीसे कहें कि वे अब तशरीफ़ ले जायें। मैं शर्मिन्दा हूँ कि उन्हें कमजोरीकी हालतमें इतनी देर इन्तज़ार करना पड़ा।"

महात्माजीने पूरे उल्लासमें अपना अट्टहास किया। खादीके धवल मंचमें वह अट्टहास गूँज उठा, जैसे हिमाच्छादित कैलासपर शिवका अट्टहास! लाउडस्पीकरने युगदेवताकी प्रसादीके रूपमें उसे चारों ओर बाँट दिया। जवाहरलालजी मंचके किनारे तक उन्हें पहुँचाने आये और वहीं खड़े-खड़े महात्माजीको मोटरमें बैठते हुए देखते रहे। मनमें प्रश्न उठा, यह नवयुग-द्वारा प्राचीन युगकी बिदाई है या दोनोंका समन्वय? 'कल' इस प्रश्नपर क्या कहेगा, इसे मैं नहीं जानता, पर 'आज' की साक्षी तो समन्वयके ही पक्षमें है।

कुछ प्रस्ताव पास हुए और कुछ सन्देश भेजनेवालोंके नाम सुनाये गये। बहुत बड़े-बड़े नाम थे, पर जनताने सिर्फ दो नामोंसे दिलचस्पी ली, एक श्रीरासबिहारी बोस और दूसरा राजा महेन्द्रप्रताप। श्री बोसका सन्देश सुनानेका आग्रह हुआ, तो कृपलानीजीने अपने दुर्वासा-स्वभावके अनुसार समयकी कमीका फ़तवा दे दिया, पर जवाहरलालजीने इसे महसूस किया और अपनी भाषामें सन्देश सुना दिया।

लखनऊके किसी सज्जनकी ओरसे नेताओं, प्रतिनिधियों और स्वयंसेवकोंको दूसरे दिनके लिए दावतकी घोषणा लाउडस्पीकरपर हुई। एक पत्र-प्रतिनिधिने पूछा, "और प्रेस?" पण्डितजीने हँसकर कहा, "जो परचा था, पढ़ दिया। मैंने कहा, "मेजबान अपने रुपयोंकी रसीद चाहेगा, तो प्रेसको दावत देगा ही।" दावत नहीं मिली और पत्रोंमें उसका कहीं ज़िक्र भी नहीं हुआ!

बस इसी दिनकी एक घटना और — जब पण्डितजी अपना भाषण

पढ़ रहे थे, तो एक तरफसे टीनके पिटनेकी धम-धम आवाज आयी। कुछ स्वयंसेवक दौड़कर बाहर चले गये। आवाज फिर आयी और कुछ और स्वयंसेवक बाहरकी ओर दौड़े। पण्डितजीका चेहरा तन गया – यह क्या बेहूदगी है ?"

किसीने कहा, "कुछ धार्मिक लोग हरिजन प्रश्नपर अपना विरोध प्रकट कर रहे हैं !"

पण्डितजीने जलममूहमे कहा, "अगर आप वादा करें कि मेरे पीछे कोई नहीं जायेगा और सब अपनी जगह बैठे रहेंगे, तो मैं इस विरोधको जरा देखना चाहता हूँ।" बहुत-से हाथ उठ गये। पण्डितजी वेदीसे उतरे और मोहके बीचको राहोंसे उस आवाजकी तरफ झपटे – एक दम अकेले। कुछ स्वयंसेवक उनके पीछे चार कदम चले कि पण्डितजीने मुड़कर उन्हें झिड़का, "बेहूदे कहीके !"

वे रुक गये। पण्डितजी गये और लौट आये। माइकपर आते ही बोले, "मेरे जानेसे पहले ही वे भाग गये।" और इस तरह हँसे कि सब हँस पड़े। सचमुच लतरोंके खिलाड़ी हैं जवाहरलाल !

१३ अप्रैलको साढ़े पाँच बजेसे ही कार्य शुरू हो गया। यह दिन बहुत व्यस्तताका था। सारे महत्त्वपूर्ण विवाद आज ही होने थे। जवाहर-लालजी आज मंचपर नहीं बैठे, वेदीपर ही रहे और सारे विवादका नेतृत्व उन्होंने इस योग्यतासे किया कि वह उन्हींका हिस्सा था। जब एक वक्ता बोलना आरम्भ करता तो वे दूसरेको बुलाकर बैठा लेते। वक्ताओंसे भी उन्होंने कहा, "दिलचस्प बातें बहुत हैं। आप उन्हें छोड़िए और मतलबकी बातें कहिए।" दोनों पक्षोंके वक्ताओंका उन्होंने इतना सुन्दर सिलसिला बाँधा कि वाह !

आरम्भमें जलियाँवाला बागके शहीदोंकी यादमें दो मिनिटका मौन रहा। वह १९१९ की १३ अप्रैल; हमारे राष्ट्रयज्ञकी आत्मबलि। हम सभी मौन थे, पर हममें कितने हैं, जो उन पुण्यात्माओंके लिए बेचैनी

अनुभव करते हैं और उनकी बलि-भावनाके कुछ कण अपने मानस पात्रमें चुननेकी कामना — गुलामीकी आग देशके कितने कलेजोंको जलाती है?

सवा आठ बजे महामना मालवीयजी आये। वही सौम्य प्रभावशाली मुखमुद्रा, वही भारतीय वेश-विन्यास, पर थके-से, झुके-से। मंचपर वे आये, पर बिना किसी हलचलके, बिना किसी जनोद्वेलनके — राष्ट्रीय भारतके इस महापर्वमें भी जैसे वे अकेले ही हों। श्री जमनालाल बजाजने उठकर उन्हें जगह दी। और कोई हिला तक नहीं। वे बैठे रहे, शान्त-से, चुप-से; जैसे पिछले बीस-पचीस वर्षोंके राष्ट्रीय जागरणमें अपनी स्थितिका सिंहावलोकन कर रहे हों।

पद-ग्रहणके प्रस्तावपर बहुत गरमागरमी रही। सत्यमूर्तिने खूब डटकर उसका समर्थन किया। किसीने पुकारा, "राघवेन्द्र और ताम्बे भी याद हैं आपको?" तुरन्त बोले, "मरने दो उन्हें, आप मुझे देखिए, मैं बनूँगा मिनिस्टर!" सब्जेक्ट कमेटीमें भी उन्होंने कहा था, "मैं मिनिस्टर बनूँगा और स्कूलोंमें महात्मा गान्धीकी जय पुकारी जायेगी और राष्ट्रीय गान गाये जायेंगे।" जैसे यह कोई बहुत बडा लक्ष्य हो! कहाँ विधानको नष्ट करने या उसके द्वारा स्वराज्यकी ओर बढनेकी बातें और कहाँ ये हलकी लन्तरानियाँ?

दस बजकर पचीस मिनिटपर समाजवादियोंने चाहा कि विवाद बन्द हो और राय ले ली जाये। जवाहरलालजीने कहा, "अभी मालवीयजी, सरदार पटेल, अच्युत पटवर्धन और राजेन्द्रबाबू बोलनेको बाकी हैं। प्रस्तावकके नाते राजेन्द्रबाबूको तो बोलना ही है, पर आप औरोंके विचार न सुनना चाहें, तो मैं विवाद बन्द कर दूँ?" दोनों पक्षोंके लोग चिल्ला उठे, "नहीं, नहीं!" 'दो हरन ज़ख्मी किये सैयाद ने एक तीर से' इसीका नाम है।

मालवीयजी बोलने आये। आम उम्मीद थी कि वे प्रस्तावके पक्षमें बोलेंगे पर बोले वे विरुद्ध। बहुतोंने आश्चर्यसे उनकी तरफ देखा।

मालवीयजी भारतवर्षके आचार्य हैं। इस भाषणमें भी उसका परिचय मिला, जब आरम्भमें ही उन्होंने कहा, "मैं मरना चाहता हूँ, सच मानिए, मरना चाहता हूँ। पचास वर्ष पहले जो देखा था, वही आज भी देख रहा हूँ और मरनेका समय आ गया है।" तो लोगोंमें भावुकताकी एक लहर आ गयी, पर जब उन्होंने विचारके स्वरमें कहा, "अपना तो यह धर्म रहा है कि जो समझमें आये कह दूँ, आप मानें या न मानें" तो इससे कम मेरे हृदयपर एक चोट लगी। पर पूज्य मालवीयजीके अनुरागोद्दीप्त नेतृत्वका करुण चीत्कार था। भाषणके बाद जरा बैठकर वे चले गये, बिल्कुल वैसे ही, जैसे आये थे — जनताके इस समुद्रमें बिना कोई लहर उठाये हुए।

गम्भीर गति, उन्नत ललाट, चढ़ी हुई आँखें, हिन्दी भाषा और गुजराती लहजा; सरदार पटेलका भाषण आरम्भ हुआ। पचहत्तर प्रतिशत मालवीय विरोध, पचीस प्रतिशत प्रस्तावका समर्थन। भाषा तीखी, कहनेका ढंग करारा – चोटोला, सरदार सचमुच सिपाही है – "मेरे भाई मालवीयजीकी बात तो मेरी समझमें ही नहीं आती, पर मैं उन्हें सब दिनसे जानता हूँ। पटनामें उन्होंने तीस हजार सत्याग्रही स्वयंसेवक देनेको कहा, पर सारे भारतवर्षमें उन्हें मिला तीन स्वयंसेवक भी नहीं।" सरदारको बहुत बार देखा है, पाससे भी, दूरसे भी और मीठी-तीखी बातें भी की हैं उनसे बहुत बार, पर कभी नहीं लगा कि उनके पास कुछ अपना सन्देश है। उनका नेतृत्व जीवन-दर्शनका नहीं, जीवन-पद्धतिका है, कर्मण्यताका है। वे कर्म-विश्वासी हैं। काम करनेका उनका अपना तरीका है और उसीके कारण वे युग-पुरुषके अटल भवन और अनन्य विश्वासपात्र हैं।

श्री पटवर्धन यहाँ हिन्दीमें बोले – खूब बोले और खूब जमे। सभीने चाहा कि वे हिन्दीमें बोला करें। पदग्रहणके विरोधियोंमें सरदार शार्दूल सिंह कवीश्वरका भी एक अपना स्थान था – इस दलका नेतृत्व उन्हींके हाथोंमें था! गठा हुआ बदन, ललाटपर स्थिरताकी रेखाएँ और चेहरेपर

सिपधर्मकी नम्रता, यही उनका हुलिया। प्रस्तावके समर्थनमें पन्तजी भी खूब बोले – नदीकी भाँति। ये महान् धाराशास्त्री हैं, पर सत्यमूर्ति बिलकुल भिन्न शैलीके वक्ता; अनथक, लड़ाकू, पराजयकी मनोवृत्तिसे दूर, मितभाषी और गहन-गम्भीर।

अब नम्बर आया वोटिंगका और पहले हाथ उठे पदग्रहणविरोधी श्री सम्पूर्णानन्दके संशोधनपर; जैसे सैकड़ों सफेद झण्डे ऊपर उठे हों। पण्डितजी अपने हाथकी पीली पेन्सिलसे इशारा कर उन्हें गिनने लगे, इस फुर्तीसे कि जैसे मशीनसे गोलियाँ निकल रही हों। गिनकर बोले, "ठीक गिनती तो नहीं हो सकती, पर मेरा 'रफ़ आइडिया' है कि संशोधनके पक्षमें दो सौ पचास और विपक्षमें चार सौ पचहत्तर रायें हैं।" सम्पूर्णानन्दजीने डिवीजनकी माँग की, तो दोनों पक्षोंके लोग अलग-अलग घेरोंमें बैठे-मंचके नेता भी घेरोंमें गये। जमनालाल बजाजने मंचके नीचे आकर पुकारा, "जवाहरलाल, ए जवाहरलाल, प्रतिनिधियोंसे कह दो कि हाथ उठाते वक्त अपना प्रतिनिधिटिकिट हाथमें रखें।" सोचा – ब्राह्मणवृत्ति जमनालालका 'वैश्य' कितना सावधान है, कितना जागरूक। संशोधनके पक्षमें दो सौ तिरपन और विपक्षमें चार सौ सत्तासी मत आये। कितना सही था जवाहरलालका रफ़ आइडिया!

तीसरे दिन मैं चला आया, पर दो दिनमें ही जो कुछ देखा, वह सब कह सकना कहाँ सम्भव है?

■

पहाड़ी रिक्शा

यह जा रही है पास ही एक रिक्शा, जिसमें बैठी हैं दो परियाँ और उन्हें खींच रहे हैं पाँच जन !

वह जा रही है दूर एक रिक्शा, जिसमें बैठा है एक भैंसा और उसे खींच रहे हैं चार जन !

यह जा रही है नीचेकी ओर स्वयं दौड़ी-सी एक रिक्शा, जिसमें बैठा है एक बूढ़ा और उसे खींच रहे हैं चार जन !

वह जा रही है ऊपरकी ओर घिसटती-सी एक रिक्शा, जिसमें बैठा है एक बीमार और उसे खींच रहे हैं चार जन !

रिक्शाको देखते ही आँखोंकी राह दिलमें उतर जाते हैं ये रिक्शा-कुली ! जो पेटके लिए मनुष्य होकर भी बैलों या घोड़ोंकी तरह मनुष्यको ही खींचते हैं ।

पिछले वर्षोंमें जब-जब पहाड़पर आया हूँ, रिक्शाएँ देखी हैं और तभी तब सोचा है, कितने दयनीय हैं ये जन, जो पेटके लिए रिक्शा खींचते हैं !

उस दिन भी एक बेंचपर बैठा मैं देख रहा था कि रिक्शाओंका एक समूह चला जा रहा है, पर मेरा ध्यान रिक्शाके कुलियोंपर नहीं, रिक्शापर ही जा टिका ।

कितना बोझ होगा एक रिक्शामें ? चार-पाँच मन ! और दो सवा-रियोंमें ? आम तौरपर ढाई मन ! तब पूरा बोझ हुआ सात-आठ मन और कभी-कभी दस मन । इसका अर्थ हुआ कि रिक्शाके प्रत्येक मजदूर-पर डेढ़ मनसे दो मन !

मैं कुछ सोच रहा हूँ, सोचे जा रहा हूँ, कोई बड़े कामकी बात है, पर धुँधली-सी है और पकड़में नहीं आ रही ! तभी देखता हूँ, सामनेकी ऊँची कोठीपर आटेकी पूरी बोरी अपनी कमरपर लिये और सिरपर बिचे पट्टेके सहारे उसे सँभाले एक मजदूर चढ़ा जा रहा है। उसे देखते ही, मेरे भीतर जो धुँधला विचार घुमड़ रहा है, उसे स्वरूप मिल गया है। अब मैं अपनेसे पूछ रहा हूँ, रिक्शाका मजदूर दो मनका बोझ पहियोंके सहारे खींचता है और यह मजदूर ठीक दो मन बोझ अपनी कमरके सहारे ही लिये जा रहा है, फिर रिक्शाका कुली दयनीय क्यों है ? स्वयं भारतके राष्ट्रपति हों या महात्मा गान्धी, ऊपर बोझ ले जानेकी जरूरत रहेगी तो सामान ऊपर जायेगा ही, और कोई-न-कोई उसे ले जायेगा भी, फिर इसमें दयनीयता क्या है ? कुछ नहीं, तो फिर रिक्शामें ही क्या खास बात है ? एक मजदूर दो मन आटा ले जा रहा है, एक मजदूर एक आदमीको, जिसका बोझा दो मन है, खींचे लिये जा रहा है; इसमें क्या कुछ अन्तर है ? मजदूर आटा उठाये या आलू, कपड़ोंका ट्रंक ले जाये या रातका बिस्तरा और इसी तरह वह ले जाये एक आदमीको, उसे उसकी मजदूरी मिलेगी। मुझे याद आया, अस्पतालमें जो अनाथ लोग मर जाते हैं उन्हें श्मशान ले जानेका काम भी मजदूर करते हैं और अपनी मजदूरी ले लेते हैं। फिर जब आटा ढोनेमें दयनीयता नहीं, यहाँतक कि मुरदा मनुष्य ढोनेमें भी दयनीयता नहीं, तो यह कौन-सी फिलासफी है कि जीवित मनुष्यका ढोना ही दयनीयता है ?

जो बात पिछले अनेक वर्षोंसे मनके लिए साधारण रही है, वह आज असाधारण क्यों बन गयी ? रिक्शा देखकर सदैव रिक्शा-कुलीपर जो दया आती रही है, इस प्रथाको बन्द करनेके लिए मनमें करुणा और विद्रोहका जो स्वर उमड़ता रहा है, क्या वह एक सस्ती भावुकता ही थी ? मन यह माननेको तैयार नहीं होता, पर मस्तिष्क तो आज जैसे अपनी बातपर अड़ ही गया है – वह उस भावुकताकी खिल्ली उड़ाकर पूछता है – जब मुरदा

मनुष्य ढोना दयनीय नहो, तब जीवित मनुष्यको खींचना दयनीय क्यों है ?

मैं अपनेमें खो गया हूँ, खोया जा रहा हूँ — हाँ, ठीक तो है। मजदूरी-मजदूरी एक ! या तो हम समाज-व्यवस्थाको ऐसा रूप दें कि मजदूरी ही न रहे, उसकी आवश्यकता ही समाप्त हो जाये जबतक ऐसा न हो मजदूरी-मजदूरी एक। मजदूर आलू ढोये या आटा, जीवित आदमीको ढोये या मुरदा लाश, एक ही बात है। हाँ, यह जरूरी है कि मजदूरको पूरी मजदूरी मिले। आखिर समाजमें पाखाना ढोना भी एक कार्य है और कोई-न-कोई उसे करेगा ही। समाजका जो यह काम करे, वह दयनीय क्यों ?

मनमें झिझक अभी बाक़ी है और तभी मैं अपनेसे पूछ रहा हूँ — तो रिक्शा-कुली दयनीय नहीं है न ? मस्तिष्क बोलता है — वह पूरी दृढ़तासे कहता है, नहीं, भाई नहीं ! पर मन पूछता है, यह दयनीय नहीं है, तो पिछले अनेक वर्षोंमें मैं यों ही इससे दुःखी रहा हूँ और दूसरे लोग भी खाम-खाह ही इस भावुकतामें फँसे रहे हैं ? मन चाहता है, कोई तथ्य ऐसा मिले कि इस भावुकताका समर्थन हो, पर मिल नहीं रहा है और तब मैं सोच रहा हूँ, किस मूर्खतामें फँसा रहा मैं इतने साल !!!

यों ही ध्यान उचटकर पहुँच गया, उस बड़े अस्पतालमें, जहाँ बहनका बड़ा ऑपरेशन हुआ था। बहन क्लोरोफ़ार्ममें धुत्त और रोगके आक्रमणसे जर्जर ! ऑपरेशन-रूमसे चार आदमी स्ट्रेचरपर उसे कमरे तक उठाकर लाये। मैं भी साथ-साथ रहा और रास्ते-भर सोचता रहा — कितने अच्छे हैं ये लोग ! ये यहाँ न हों, तो रोगियोंको कितना कष्ट हो ? और तब मैंने कृतज्ञ होकर उन्हें दो रुपये पुरस्कार दिये थे ! तब क्या उनका कार्य दयनीय था और मेरे मनमें उसके प्रति कोमलताका जो भाव उगा था, वह एक मूर्खता ही थी ? आज तो यही लगता है कि वह एक मूर्खता ही थी। मनुष्य भी क्या अजूबा है कि इतने वर्षों तक एक मूर्खताको ही अपना गुण समझता रहा !

सोचनेकी शक्ति और उत्साह अब क्षीण हो गया है और मस्तिष्क थक चला है। मन अब कोई नयी बात चाहता है। मैं अपनी बँगलेसे उठकर चल पड़ा हूँ, धीरे-धीरे और गुमसुम; मन ऊँघ मर-सा गया है यह पहाड़ नापकर। चला जा रहा हूँ, चला जा रहा हूँ। कुछ सोच रहा हूँ, कुछ सोच भी नहीं रहा हूँ।

सामनेसे आ रहा है एक मजदूर — कोयलेकी एक कण्डी कमरपर लिये, दूसरी ओर जा रहा है एक मजदूर कमरपर ही लकड़ीका भारी गट्ठा लिये। ये जा रहे हैं तीन मजदूर साथ-साथ बड़े-बड़े ट्रंक और बिस्तर लादे।

मैं देख रहा हूँ और सोच रहा हूँ कि कितना बोझ उठाते हैं ये पहाड़ी बन्धु और तब याद आया, उस दिन कुल्हड़ी बाजारमें ढालपर बच्चा बैठ गया और बास्केटवाला भी न मिला, तो मैंने उसे अपनी गोदमें उठा लिया था। हाँ, उठा तो लिया था, पर ऊपर पहुँचाना मुझे मुश्किल हो गया था। ऊपर पहुँचकर जब लम्बे-लम्बे साँसोंके बीच मैंने उसे उतारा, तो मुझे लगा कि मेरी छातीसे भूत उतरा और तब मेरे मुँहसे निकला, कम्बख्तमें कितना बोझ है!

अब मेरे मनमें एक शब्द है बोझ और यह एक गूँजकी तरह मेरे मनके गुम्बदमें भर रहा है।

एक बार किसी गाँवमें जब मैं गया तो वहाँ एक पिताने अपने निखट्टू पुत्रको 'धरतीका बोझ' कहा था और मेरे नन्हें पुत्रकी पत्नीकी मृत्युके बाद किसी आत्मीयने ही 'छातीका बोझ' कहा था।

मनके गुम्बदमें भरी गूँजमें अब ये दो नयी ध्वनियाँ आ गयी हैं — धरतीका बोझ और छातीका बोझ।

धरतीका बोझ! छातीका बोझ!! दोनोंमें मनकी घोर घृणा है, तो बोझ बनना बुरा है! बोझ बनकर जीना दयनीय है।

मनकी गूँज इस चिन्तनमें तीव्र हो चला है। बोझ बनना बुरा है। बोझका अर्थ है – दूसरेका सहारा। यह स्वावलम्बनके विरुद्ध अनाथताका-असहायताका अवलम्बन है।

सामनेसे एक रिक्शा आ रहा है। उसमें बैठा है एक मोटा मनुष्य और उसे खींच रहे हैं चार जन! कोयलेकी बण्डी, लकड़ीका गट्ठा और ट्रंक-बिस्तरा लिये जा रहे वे मजदूर भी दिखाई दे रहे हैं मुझे!

ओह! कितना बोझ ढोते हैं ये पहाड़ी बन्धु! फिर वही बोझ! कोयलेका बोझ, लकड़ीका बोझ, ट्रंकका बोझ! सोचते-सोचते मैं बह रहा हूँ ...और मनुष्यका बोझ!

मनके भीतर एक रोशनी-सी आ रही है – मनुष्यका बोझ! तभी एक प्रश्न – जो मनुष्य रिक्शामें बैठता है, वह बोझ है और जीवित, स्वस्थ मनुष्यका बोझ बनना दयनीय है? बेशक दयनीय है!

मेरी थकान अब दूर हो गयी है। मनके साथ देहमें भी स्फुरणा है और एक वाक्य मनकी उस गूँजपर छा गया है – जो रिक्शा खींचते हैं वे पुरुषार्थी हैं – उनका पुरुषार्थ भले हो उनकी विवशता हो, वे हैं पुरुषार्थी और जो उसमें बैठते हैं, वे बोझ हैं। इस बातका फलितार्थ होता है – बोझ बनना दयनीय है, रिक्शामें बैठनेवाले लोग दयनीय हैं।

और मैं अब अपनेसे कह रहा हूँ। अनेक वर्षोंसे मैं रिक्शा चलानेवालोंको दयाका पात्र समझता रहा हूँ, पर सत्य यह है कि रिक्शामें बैठनेवाले ही दयनीय हैं।

मन नयी दिशामें मुड़ चला है – अहिंसाकी छायामें। एक रोगी भी हमारी दयाका पात्र है और एक डाकू भी। दवा और दण्ड समाजकी दया ही तो है! तब पेटके लिए बोझ ढोनेवो विवश मजदूर और पैसेके गर्वमें मनुष्यसे बोझ बननेवाला यात्री, दोनों ही दयाके पात्र हैं और हमारी दयाका अनुरोध है कि यह प्रथा बन्द हो।

वृद्धों एवं बीमारोंके लिए यान, बच्चोंके लिए बासेंट और मूर्छितों एवं मृतकोंको लेजानेके लिए स्ट्रेचर रहेंगे ही। रिक्शाएँ भी रहेंगी, पर संग्रहालयोंमें; जहाँ भावी पीढ़ीके बच्चे उन्हें देखेंगे और सोचेंगे – ओह! वह भी एक युग था, जब मनुष्य भी कुछ पैसोंके लिए मनुष्योंद्वारा ही बोझकी तरह ढोया जाया करता था।

■

कांग्रेस महासमितिके अधिवेशनमें

वे आसमानमें और हम धरतीपर !

हम धरतीपर और हमारे हृदय और आँखें आसमानपर, जैसे हमारी आँखोंकी डोरमें ही वह खिंचा आ रहा हो? अपने वायुयानसे हमें ताकते-झाँकते ये उतरे जवाहरलाल कि इन्दौरकी इन्द्रपुरीमें कांग्रेस महासमितिका अधिवेशन बस शुरू हो गया।

यह है १२ सितम्बर १९५२!

हारोंसे लद चले जवाहरलालके कन्धे। इन हारोंमें श्रद्धाकी सुरभि है तो शिष्टाचारका सौन्दर्य भी। जवाहरलालजीके पीछे खड़े हैं मौलाना अबुल-कलाम आज़ाद, डॉक्टर काटजू और और और, पर किसीको उन्हें देखनेकी फुरसत नहीं। तब जागे जवाहरलालजी तपाकसे, "अरे भाई देखिए, साथमें मौलाना साहब और डॉक्टर काटजू हैं, उन्हें पहनाइए हार।" और तब उनके भी गले पड़कीं कुछ मालाएँ और मैंने अपनेसे कहा, आजके युगकी मालाएँ तो जवाहरलालकी ही हैं, यों वह चाहें जिसके गले उन्हें डलवा दें।

"जवाहरलालकी जय!" जवाहरलाल हाउसके बाहरका घेरा, जहाँ वह है, वहाँ भीड़ है — अपार भीड़, उतावली भीड़, उमड़ती-उफनती भीड़, बेचैन भीड़। और, कोटि-कोटि मानवोंके आकर्षणका केन्द्रबिन्दु, जिसे देखकर जनताके सागरमें ज्वार उमड़ता है, पर हाय, उसका नहीं जागती!

भीड़में लादे हारोंपर धक्कम-धक्का कन्धा भिड़ाते आइए-री-आइए,

इसका उद्देश्य था, तो भाई-भतीजोंको परमिट देनेकी जलील जहनियतसे ऊपर वे क्यों न उठ सके। वे न उठें और जायें जहन्नुममें, पर उनके नामसे यह कांग्रेस जो डुबकी खाती है उसे कैसे भूला जाये ?

गान्धी-भवनके बाहर भीड़-हो-भीड़, पर व्यवस्थित – हरेक आदमी लाइनमें। ये आये उत्तर-प्रदेशके मुख्यमन्त्री पन्तजी और यह मध्य-प्रदेशके रविशंकर शुक्ल, दोनों लम्बे-चौड़े, तो यह आ गये हैदराबादके मुख्य मन्त्री श्री रामकृष्ण राव नाटे गुट्टे और ये वे और ये ये, जनता शान्त है, पुलिसके अधिकारी सतर्क है।

इस शान्तिमें यहीसे चमकी एक चौंक और फिर लहर – पण्डितजी आ गये और तब बाढ़ – आ गये ! आ गये !! बाढ़ बन्धनोंमें कब बँधी है, पुलिसके प्रबन्ध और कार्यकर्त्ताओंकी कोशिशें बेकार – लोग उमड आये जवाहरलालकी मोटरके चारों ओर।

मोटरमें ड्राइवरके पास श्री गोपीकृष्ण हाण्डू डिप्टी डायरेक्टर इण्टेलीजेन्स और पीछे पण्डितजी और श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित। हाण्डू अपनी जिम्मेदारियोंसे परेशान, पर हमेशासे वे अपनी सूझ और फुरतीके लिए यशस्वी, उन्होंने बलपूर्वक पण्डितजीको जीनेपर चढ़ा दिया।

बस यही इस अधिवेशनका सर्वोत्तम दृश्य।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू गान्धी-भवनके दुमंजिले छज्जेपर और नीचे कोई आठ-दस हजार आदमी ! दस हजार आदमी, तो बीस हजार आँखें और दस हजार दिल, दिमाग और चेहरे ! इन बीस हजार आँखोंमें एक तसवीर जवाहरलाल, इन दस हजार दिल-दिमागोंमें एक धुन जवाहरलाल और यह चेहरे ? उमंगोंसे फट पड़ते-से, खुशीसे खिले-से; जैसे हजारों कैमरे एक साथ एक ही आदमीका फ़ोटो ले रहे हों !

ओह, कितना आकर्षण है जवाहरलालमें ! हर आदमी उसे देखनेको बेचैन है, दीवाना है, पर इस आकर्षणका रहस्य क्या है ?

जवाहरलालकी राजनैतिक ईमानदारीको वामपक्ष रोज चैलेंज करता

सका उद्देश्य था, तो भाई-भतीजोंको परमिट देनेकी उनके बहादुरके
ऊपर वे क्यों न उठ सके। वे न उठें और जायें जहन्नुममें, पर उनके नाम-
। यह कालिम जो डुबकी लाती है उसे कैसे भूला जाये?

गान्धी-भवनके बाहर भीड़-ही-भीड़, पर व्यवस्थित — हरेक आदमी
लाइनमें। ये आये उत्तर-प्रदेशके मुख्यमन्त्री पन्तजी और यह मध्य-प्रदेशके
रविशंकर शुक्ल, दोनों लम्बे-चौड़े, तो यह आ गये हैदराबादके मुख्यमन्त्री
श्री रामकृष्ण राव नाटे गुट्टे और ये वे और वे ये, जनता शान्त है, पुलिस-
के अधिकारी सतर्क हैं।

इस शान्तिमें कहींसे चमकी एक चौंक और फिर लहर — पण्डितजी
आ गये और तब बाढ़ — आ गये! आ गये!! बाढ़ बन्धनोंमें कब बंधी है,
पुलिसके प्रबन्ध और कार्यकर्ताओंकी कोशिशें बेकार — लोग उमड़ पड़े
जवाहरलालकी मोटरके चारों ओर।

मोटरमें ड्राइवरके पास श्री गोपीकृष्ण हाण्डू डिप्टी डायरेक्टर इण्टेलि-
जेन्स और पीछे पण्डितजी और श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित। हाण्डू अपनी
जिम्मेदारियोंसे परेशान, पर हमेशाके वे अपनी सूझ और फुर्तीके लिए
यशस्वी, उन्होंने बलपूर्वक पण्डितजीको जीनेपर चढ़ा दिया।

बस यही इस अधिवेशनका सर्वोत्तम दृश्य।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू गान्धी-भवनके दुमंजिले पर
कोई आठ-दस हजार आदमी! दस हजार आदमी,

है और उसकी शासन-चातुरीकी आलोचना घर-घर और गली-गली है – जनताकी भाषामें यही तो है, जिसके राजमें कोई काम बिना रिश्वत या सिफारिशके नहीं होता और यही तो उन कांग्रेसियोंका प्रधान है, जिन्हें लोग कोसा करते हैं, फिर जवाहरलालके प्रति जनताके आकर्षणकी बिडको कहाँ है ? वह कोना कौन-सा है, जिससे जनताको जवाहरलाल आकर्षक दिखाई देता है ?

मुझे लगता है कि जवाहरलालकी नैतिक ईमानदारी-व्यक्तिगत चरित्र, विरोधियोंके लिए भी 'अनचैलेंजेबल' है, उसकी सिन्सियरिटी उनके लिए भी विश्वसनीय है। लोग महसूस करते हैं कि वही हैं, जो नयी जिन्दगी, नया समाज और नये भारतके निर्माणके लिए बेचैन हैं, वही हैं जिसने दुनियामें भारतकी शान चमकायी, दूसरे शब्दोंमें वही एक है जिसकी जनताके जीवनमें दिलचस्पी है – गान्धीके बाद वही तो है जो देशकी पतवार थामे है; और बस यहीं उस आकर्षणकी नींव है। मैंने सोचा, ओ एक ईमानदारी इतनी बडी होती है !

कन्वेन्शनके स्वागताध्यक्ष और मध्यभारतके मन्त्री श्री मिश्रीलाल गंगवालका स्वागत-भाषण उतना ही सादा था जितने वे स्वयं।

पण्डित नेहरूने अपने भाषणमें पार्लमिण्टरी परिषद् स्थापित करने और कांग्रेसका एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करनेकी बात कही। वे बोल रहे थे, पर भाषणमें वे न थे। उनकी मूड कुछ यों थी – चलो आ गया हूँ, तो कुछ कह ही दूँ।

सचाई यह है कि यह कन्वेन्शन कुछ यों ही बुला लिया गया था। इसके एक प्रस्तावमें कहा गया था कि भिन्न-भिन्न राज्योंके कांग्रेसी सदस्योंमें सहयोग होना चाहिए। और दूसरेमें एक पत्र निकालनेकी बात, पर यह काम तो एक सरकुलरसे ही हो सकता था। यही कारण है कि इन प्रस्तावोंके लिए सदस्योंमें कोई उत्साह न था। मंचसे जब पण्डित नेहरू, डॉ० काटजू और पाटिल बोल चुके, तो पण्डितजीने सदस्योंसे कहा, "प्लेटफार्म तो

बाकी बोल चुका अब आपका नम्बर है," पर कोई बोलनेको नहीं उठा, तब पण्डितजीने एक बड़ा करारा व्यंग किया : "मेम्बरोंकी खामोशीका यह नया तजर्बा है। दिल्लीमें तो बोलनेको हरेक बेचैन रहता है, जिससे काफी परेशानी होती है।"

इस अधिवेशनकी सबसे बड़ी दिलचस्प चीज थी, डॉ० काटजूका भाषण। वे पहला प्रस्ताव पेश करनेको उठे, तो बोले, "प्रधानजी चाहते हैं कि मैं प्रस्तावपर बोलूँ पर मैं तो मध्यभारतके गुणगान करना चाहता हूँ। भारतके प्रान्तोंमें मध्यभारत ही जवाहर है और वही लाल। भारतकी राजधानी दिल्लीको बनाया गया, मुझसे किसीने नहीं पूछा। कोई पूछता तो मैं कहता...."

बीचमें ही किसीने कहा, "अपनी जन्म-भूमि आगरा !" तो बोले, "ना अवन्ती (उज्जैन)" और बस फिर तो वे बढ़ चले और उन्होंने मध्यभारतको कश्मीरसे भी श्रेष्ठ बताया।

मध्यभारतके लोग मुग्ध हो गये और उनकी तालियोंसे हॉल गूँज-गूँज गया। डॉ० काटजू श्रेष्ठ वकील हैं और वकालत छोड़कर मिनिस्टर बननेमें उन्होंने बहुत बड़ा बलिदान किया है, पर इस भाषणसे उन्होंने वर्षोंका मेहनताना एक साथ वसूल कर लिया। प्रसिद्ध पत्रकार श्री सत्यदेव विद्यालंकारने मुझसे कहा, "डॉ० काटजूने पार्लमेण्टका चुनाव यहाँसे लड़कर मध्यभारतको सर किया था और आज उसपर कब्जा भी कर लिया।"

महासमितिके अधिवेशनका पहला काम था झण्डा फहराना। यह बहुत शानदार समारोह था और कुछ देरके लिए तो हम जैसे १९३० के जलते-जागते वातावरणमें पहुँच गये। पण्डित जवाहरलाल भी भावलीन थे; यहाँतक कि वे खड़े थे कांग्रेस पताकाके नीचे और उनके मनमें थी राष्ट्रीय पताका !

इसी स्थितिमें उन्होंने कहा, "यह झण्डा जिसे कि आप हम और

लाख जनता सिर नवाती है, महज कपड़ेकी तीन पट्टियाँ हैं, मगर इस झण्डेमें आपसकी एकता, एक-दूसरेका विश्वास, मुहब्बत और मुल्ककी तरक्कीकी भावना छिपी है। झण्डा किसी एक नगर या एक प्रान्तकी धरोहर नहीं, वरन् वह देशकी धरोहर है, समस्त धर्मों, समस्त जातियोंकी अपनी सर्वोत्तम चीज़ है। आज हमें झण्डेको काम और मेहनतका भी प्रतीक बना लेना चाहिए।

श्री कन्हैयालाल खादीवालाके स्वागत-भाषणके बाद पण्डित जवाहरलाल नेहरूके हिन्दी भाषणसे खुला अधिवेशन आरम्भ हुआ। वे जब नयी प्रयोगशालाओंके भावी सुफलकी चर्चा कर रहे थे, तो ज़ोरका पानी बरस पड़ा और पण्डालके ऊपरका टीन टपाटपकी ध्वनिसे गड़गड़ा उठा। पानी बरसनेकी खुशीमें जनताने जवाहरलालकी जय गुँजायी और तालियाँ गड़गड़ा दीं।

अब नेहरूजी भौंचक, कभी वे देखते हैं ऊपर तो कभी नीचे, यह आवाज़ कहाँ है? उनकी समझमें बात आयी कि वे ज़ोरसे हँस पड़े और तब बोले, "मुबारक है आपको।"

पण्डितजी आज देशके सर्वमान्य नेता हैं। उन्होंने भाषणमें क्या कहा, यह देखना साधारण है। असलमें देखना यह है कि उनके भाषणकी प्रतिध्वनियाँ क्या हैं और आज जनताके मनमें जो जिज्ञासाएँ हैं, वे प्रतिध्वनियाँ उनका क्या उत्तर देती हैं।

आज जनतामें जो आलोचना है, चे-मे-गोइयाँ हैं, उनका सार है— देशकी पाँच वर्षोंकी स्वतन्त्रतामें अभी सरकारने यह नहीं किया, वह नहीं किया, यह कमी है, वह कमी है।

जवाहरलाल नेहरूके मानसकी प्रतिध्वनि है कि ठीक है आपकी बात, पर हम प्रजातन्त्रकी जिस पद्धतिकी नींव रख रहे हैं, उसमें यह जरूरी है कि हम तो करें ही, आप भी करें।

संक्षेपमें पण्डित नेहरू यह मानकर चलते हैं कि आज हम जनताके

मुखपूर्ण जीवनका निर्माण नहीं कर रहे हैं, उसको नींव हो रख रहे हैं। साफ़-साफ़ यह कि वे निर्माण्ता होनेका श्रेय माँगते हैं, उन्हें उद्घाटनका भी श्रेय मिले, इसके लिए वे लालायित नहीं हैं।

सरकार तेज़ीसे क्यों नहीं चलती, इस बारेमें उनके भीतरकी धारणा कुछ यों है कि भारतकी परिस्थिति और परम्पराको देखकर यही उचित और हितकर है कि हम अहिंसात्मक क्रान्तिके द्वारा देशको प्रगतिके लम्बे रास्ते से चलें और हिंसात्मक दबावके द्वारा, जो जल्दी मुमकिन है, उसे न अपनायें। संक्षेपमें वे असन्तोषमें भी सन्तुष्ट हैं कि आज जो होना है, हो रहा है, कल जो होनेवाला है, कल होगा।

अब आये प्रस्ताव। शोक-प्रस्तावके बाद श्रीनरहरि विष्णु गाडगिलने काँग्रेसके विधानमें संशोधनका प्रस्ताव उपस्थित किया। इस प्रस्तावकी पत्रोंमें बहुत चर्चा हो चुकी थी और आशा थी कि इसपर बहुत गरम बहस होगी। कहा गया था कि काँग्रेस-शासन काँग्रेस-संगठनपर क़ब्ज़ा करना चाहता है और पाटिल जो संशोधन करेंगे, उससे काँग्रेस-शासनपर काँग्रेस-संगठनका क़ब्ज़ा हो जायेगा।

समझमें आने लायक बात कहनी हो तो यों कहिए कि बँगलोरमें पराजित गुट इन्दौरमें नेहरूको कसनेकी तैयारीमें था, पर इन्दौरमें आते ही परदेके पीछे जो बातें हुईं उनमें विरोधका बल टूट गया और एक संशोधित प्रस्ताव बना, जिसे गाडगिल पेश कर रहे थे।

हिन्दी-हिन्दुस्तानीके विवादमें, हिन्दीके एक नेता रहनेवाले गाडगिल अँगरेज़ीमें ही बोल पड़े तो पण्डालमें कानाफूसी हुई और पाटिल भी उधर ही बढ़े, तो कानाफूसी कोलाहलमें बदली, पर पाटिल तो 'पब्लिक प्लेयर' हैं। सँभलकर बोले, "अच्छा हिन्दी चाहते हैं तो हिन्दी लीजिए" और बड़ी टकसाली हिन्दी बोले :

"पार्लियामेण्टके मेम्बर काँग्रेस कमेटियोंके सौ टका मेम्बर होंगे और असेम्बलियोंके एसोशियेट मेम्बर। शासन और संगठनमें कोऑर्डिनेशन-

दोस्ती होनी चाहिए।" सुनकर जनता जम गयी! पं० सत्यदेव विद्यालंकार बोले, "फुल फ्लेज मेम्बर तो हुए एक सौ टका मेम्बर, पर एसोसियेट मेम्बर क्या हुए?"

मैंने कहा, ये हुए दो टका मेम्बर–यानी आइए, बैठिए, बोलिए और जाइए; क्योंकि इन्हें वोट देनेका अधिकार तो होगा नहीं।

पाटिलके समर्थनके बाद मैंने मंचको बारीकीसे देखा। विरोधी गुटके नेता सुस्त बैठे थे, जैसे विरोधको सरकटी देहके धड हों और जवाहरलालजी अचकनके उस काजमें आज लाल गुलाबका फूल लगाये थे, जो कल सूना था!

बंगलौरमें जवाहरलालके राजनैतिक जीवनको समाप्त करनेका मोर्चा विरोधी दलने बाँधा था और वह अपनी सफलतामें इतना विश्वासी था कि 'बिना जवाहरलालके कांग्रेसको चलाने' की घोषणा कर चुका था— उसकी जेबमें नये केन्द्रीय मन्त्रि-मण्डलकी सूची तक तैयार थी। इन्दौरमें ऐसा तो न था, सिर्फ़ दाव-घातका ही मोर्चा था, जो जमनेसे पहले ही टूट गया।

पहले दिनकी कार्यवाहीको पूरी तरह देखकर मैंने सोचा, जवाहरलालका प्रभाव आज सारे राष्ट्रमें अजेय है, पर उनकी पार्टी इस प्रभावको बढ़ानेका नहीं, शोषण करनेका ही काम करती है। मुझे याद आ गये मेरे बूढ़े पिताजी। मैं छोटा था, उनसे पैसे माँगता था, मेरा बड़ा भाई पढ़ता था, उनसे पैसे माँगता था, उससे बड़ा भाई भंगडमस्त था वह भी उनसे पैसे माँगता था। पण्डित जवाहरलालका कुनबा – कांग्रेस-भी ऐसा ही है। कुछ अबोध हैं, कुछ सीखतड, कुछ भंगडी और ये सब अपने अस्तित्व और व्यक्तित्वके लिए ताकत चाहते हैं जवाहरलालसे। तो यों जवाहरलाल कांग्रेसकी शक्ति है और कांग्रेस जवाहरलालकी कमज़ोरी!

ग़ज़बका प्रभाव है जवाहरलालमें, पर आजका भारत लाख सिर झुकाये इस प्रभावको, इतिहास भावुक नहीं होता; वह जवाहरलालसे सौ

साल बाद एक ही प्रश्न पूछेगा, "तूने उस अथाह प्रभावका क्या उपयोग किया?"

जवाहरलालमें कला और राजनीतिके समन्वयका एक रचक है, जो उन्हें कठोर नहीं होने देता। यही कारण है कि सम्भव होने भी वे डिक्टेटर नहीं हो पाये। डिक्टेटर वध और बलिदान, निर्माणके इन दोनों पहियोंको तेजीसे घुमा देता है और इस प्रकार उसके चारों ओर एक-एक चमत्कारी वातावरणकी सृष्टि हो जाती है, पर जवाहरलाल अपनोंको बलिदानकी भावना और नव-निर्माणके विरोधी तत्त्वोंको कड़ा दण्ड नहीं दे पाते। पता नहीं इतिहास उन्हें इसके लिए महान् कहेगा या मूर्ख?

दूसरे दिन महासमितिके दो अधिवेशन

दक्षिण अफ्रीकाके वर्णभेदकी लड़ाईकी एक प्रस्तावमें ललकार दी गयी, तो दूसरेमें ट्यूनिशियामें साम्राज्यवादी प्रवृत्तियोंको धिक्कारा गया, इसकी प्रतिध्वनि हुई कि आजका भारत विश्वकी राजनीतिको बदल भले ही न पाये, वह लड़ाईका प्रहरी जरूर है।

महासमितिका मुख्य प्रस्ताव है वह आर्थिक प्रस्ताव, जिसे पण्डितजीने पेश किया और श्रीमन्नारायण अग्रवालने समर्थन। इसके कुछ अंश इस प्रकार है, "भारतकी जनताके सामने दरिद्रता, बेकारी, अज्ञान और फूटसे युद्ध करनेका अनुशासनपूर्ण संगठित तरीकेसे आर्थिक प्रगति, अधिक उत्पादन, न्यायपूर्ण वितरण तथा जनताके रहन-सहनके स्तरको उन्नत करनेकी दिशामें अपनी समस्त शक्ति लगाकर भारतके संविधानमें बताये गये लक्ष्यको प्राप्त करनेका महान् और अत्यन्त आवश्यक कार्य है। इस लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिए आर्थिक प्रगतिके क्रममें गतिशीलता लानी होगी और ऐसे निश्चित कदम उठाने पड़ेंगे, जिनसे लोगोंको समान अवसर मिल सकें और जिससे आय और सम्पत्तिकी असमानताको कम किया जा सके। प्रगतिका आधार देकर आर्थिक व्यवस्थाके ढाँचेमें आमूल परिवर्तनकर

निर्भर होना चाहिए, ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की जानी चाहिए जिसमें कि समाज राज्यके विभिन्न संगठनों एवं सहकारी संस्थाओं-द्वारा उद्योग तथा व्यापारके विकास एवं संचालनमें और भी अधिक हिस्सा ले सके। उत्पादन और व्यापारकी प्रतियोगिता तथा निजी लाभके बदले सहकारिता तथा समाज-सेवाके आधारपर आश्रित किया जाना चाहिए। इस बातके लिए दृष्टिकोण और शासनकी प्रणालियोंमें परिवर्तन और जनता-द्वारा अपने क्षमताके अनुसार अधिकसे अधिक त्याग करनेकी आवश्यकता है।"

इस प्रस्तावको कांग्रेसके इतिहासमें नया अध्याय कहा गया। श्रीमन्नारायण अग्रवालके समर्थनमें विषमताके प्रति विद्रोह तो न था, पर उसकी सरल चर्चा और उसे मिटानेकी बात भी स्पष्ट भाषामें कही गयी थी, "आखिर बड़े कारखाने भी मैनेजिङ् एजेन्सी या किसी धनपतिके हाथ क्यों रहें, वे को-आपरेटिव व्यवस्थामें क्यों न हों।"

मजदूर प्रश्नोंके विशेषज्ञ नेता श्री खण्डू भाईने इस स्पष्टताको थोड़ी प्रखरता दी, जब कहा, "इस प्रस्तावमें कांग्रेसका मानस शासनके सामने आया है। वह मानस यह है कि आजकी समाज-व्यवस्थाका ढांचा बदले। पूँजीवादी समाज-व्यवस्थाका आधार लेकर हम नहीं पनपे और इसे बदले बिना हम जनतामें सहकार नहीं जगा सकते!"

प्रस्ताव पास हो गया और इसका अर्थ हुआ कि अब कांग्रेस यह खूब समझ गयी है कि या तो वह कोई तेज़ कदम उठाये और या मिट जाये! सचाई यह है कि इस प्रस्तावपर कांग्रेसी शासन जो कुछ करेगा, वही कांग्रेसके जीवन-मरणकी कसौटी होगी।

कलकत्तेके समाज-सुधारक श्री वसन्तलाल मुरारकाने इस प्रस्तावमें यह संशोधन रखा कि एक व्यक्तिकी आयसे दूसरे व्यक्तिकी आय पचास गुणोंसे अधिक न हो। उन्होंने कहा, मजदूर और मैनेजरकी तनख्वाहमें जो विषमता है, वह दूर हो।

संशोधन गिर गया, पर उनके प्रभावहीन भाषणका जनतापर जो

प्रभाव पड़ा वह सब प्रभावशाली व्यक्तियोंके भाषणोंसे अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ और तालियोंसे पण्डाल गूँज उठा। इसका अर्थ हुआ कि जनताके हित-राहत या समाज-व्यवस्थाके नव-निर्माणका कोई काम कांग्रेस हाथमें तेज़ीसे ले, तो जनताका आजका अवसाद उत्साहमें बदल सकता है और उसका पूरा सहयोग भी मिल सकता है। तो कमज़ोरी शिखरमें है नींवमें नहीं और यह नींव क्या किसी दिन ऊबकर स्वयं न हिल उठेगी?

प्रस्तावके ठीक बीचमें एक रेला पण्डालमें आया और अव्यवस्था फैली तो स्वयंसेवक दौड़े कि नेहरू भिन्नाये हुए माइकपर आये, "यह मीटिङ्ग है या इन्दौरका बाज़ार कि जब चाहा खड़े हो गये या भाग पड़े। मैं इसे गवारा नहीं कर सकता। जो बैठना नहीं चाहते वे बाहर घूमें या घर जायें।" और ज़ोरसे गरजकर स्वयंसेवकोंसे बोले, "बैठ जाओ, कोई उठे, तुम बैठे रहो, अब मैं किसीको खड़ा न देखूँ, साँप भी उठे, तो तुम मत उठो।"

लोग हँस पड़े। जवाहरलालकी घुड़कीपर भी लोग क्यों हँसते हैं? उनकी आत्मीयतामें सबका अखण्ड विश्वास है और यह विश्वास ही उस ममताकी जड़ है, जो उनके प्रति सबमें फैली है।

इस भस्मासुरी गुस्सेके तुरन्त बाद बोले, "श्रीगुलज़ारीलाल नन्दाकी तबीयत बहुत अच्छी नहीं है, गला भी उनका पड़ा है, पर उनमें इतना जोश है कि वे कुछ-न-कुछ कहा ही चाहते हैं।" और वे इतनी शोखीसे मुसकराये कि सारा पण्डाल हँस पड़ा और हज़ारों फिल्मी मुसकराहटें मात हो गयीं।

यह हँसी ही जवाहरलालकी शक्तिका स्रोत है। वे नाराज़ होते हैं और हँस पड़ते हैं, सोचते हैं और हँस पड़ते हैं, थकते हैं, ऊबते हैं और हँस पड़ते हैं।

राजप्रमुख प्रथा-विरोधी प्रस्तावकी सूचना पाते ही जनतामें जोश उबल पड़ा और जब अनुमोदकने कहा, आप इसे एक मतसे पास करें, तो

पण्डालमें बाढ़-सी आयी पर पण्डितजीने एक ही वाक्यमें इस बाढ़को बाँध दिया, "आप सब, इसपर राय दें, पर मेरा मत तो इसके विरोधमें ही होगा, इसलिए एक मतसे तो यह पास नहीं हो सकता। सरकारोंके वादे यों नहीं बदला करते। मैं भी इसे बदलना चाहता हूँ, पर इस तरह कि भारत सरकारकी शानके लायक हो यह।"

यहाँ नेहरू नेतृत्वकी पूरी मूडमें थे। लोकमत प्रस्तावके पक्षमें था, पर नेतृत्व विरोधमें। जवाहरलालजीने ठीक ही कहा, कभी हमें जनताके पीछे चलना पड़ता है, पर उसे नेतृत्व देना भी हमारा काम है।

प्रस्ताव वापस ले लिया गया, पर इसमें सन्देह नहीं कि राजप्रमुख प्रथा और प्रीवीपर्स दोनोंपर सवाल आनेकी यह घोषणा हो गयी।

अधिवेशन शेख अब्दुल्लाके भाषणपर समाप्त हो गया और मैं बाहर निकला। तीन भिखारी पण्डालके सामने ही भीख माँग रहे थे, जैसे पिसी मानवता पूछ रही थी, तुम्हारी यह आर्थिक व्यवस्था हम तक कब पहुँचेगी? मुझे लगा कि यह कांग्रेस और कांग्रेसके प्रोग्रामको दिया धरतीका चैलेंज है और इस अटल चैलेंजपर दिया जानेवाला जवाब ही कांग्रेसके जीवन-मरणका निर्णायक होगा, पर आजकी शिथिलता, भावना-हीनता, तू-तू मैं-मैं और ला-लामें कांग्रेस सही समयपर यह जवाब दे सकेगी?

□

मेरे मकानके आस-पास

जहाँ मैं आजकल रहता हूँ, उस स्थानकी आस-पास (सर्वे) इस प्रकार है : एक विशाल और शानदार कोठी दोमंज़िली। ऊपरके हिस्से-में रहते हैं एक अप-टु-डेट सज्जन, जो अपने व्यापारके सिलसिलेमें बाहर-से आकर यहाँ रह रहे हैं। कोठीके मालिक उनके पार्टनर हैं। पुराने रईस हैं, अफसरोंसे भी मिलते हैं। आपकी पत्नी सुन्दर हैं। आपकी लड़कीके साथ पढ़ रही हैं, सेकेण्ड ईयरमें। बड़ा सुखी परिवार है।

नीचेके हिस्सेमें स्वयं कोठीके मालिक रहते हैं। लाखों रुपयोंका कार-बार है। स्वयं शिक्षित हैं, पत्नी सार्वजनिक क्षेत्रमें यश-प्राप्त हैं। किसी प्रकारका अभाव नहीं, दुःख नहीं, सब भगवान्‌की कृपा है।

पासके फ्लैटमें हिन्दीके यशस्वी पत्रकार रहते हैं। सहृदय, सज्जन, हँसमुख और मिलनसार। इनके परिवारमें एक पुत्र है, पुत्री है, विधवा भाभी हैं। पासके फ्लैटोंमें और दो भले परिवार रहते हैं और सामने ही रहता है, कोठीका भंगी, अपने क्वार्टरमें। इसका परिवार बड़ा है। कई लड़के, लड़कियाँ, बहुएँ, बच्चे।

जरा बढ़कर सामने ही सात फ्लैट हैं, जिनमें किरायेदार रहते हैं। सभी परिवार शिक्षित हैं, शरीफ हैं, कमाऊ हैं। बराबरमें दो कोठियाँ हैं, जिनमें बड़े आदमी रहते हैं, जो सबका सुखी है, प्रसन्न है। आस-पासकी तीन कोठियोंमें भी इसी प्रकारके परिवार। [illegible] इनके यहाँ अभाव नहीं, अभियोग नहीं, जो आरामकी [illegible] कमाई इन्हें सुखी रहना चाहिए।

अपने [illegible] रे देखने

सबसे छोटा, सबसे गरीब, दीन, जिम्मेदारियोंके बोझसे दबा जो परिवार है, यह उस भंगीका है। थोड़ी आय, बड़ा कुनबा, अछूतपनकी भ्रान्ति, अशिक्षा और अप्रतिष्ठा। सारे वातावरणमें वह ऐसा है, जैसे हिमाच्छादित कैलासके धवल शृंगोंके मध्य पड़ा कोई अँधेरा खड्ड! उसके बच्चोंको मैं अपने पास बुला लेता हूँ, पैसे देता हूँ, खिलाता हूँ, कहानियाँ सुनाता हूँ। पहले तो वे झिझकते थे, अब भेद पा गये हैं। रास्तेमें कुरता पकड़ लेते हैं और कभी-कभी तो जबरदस्ती पैसे वसूल करते हैं। इनकार करनेपर कहते हैं, अच्छा, जेब दिखाओ!

मैं अपने कमरेमें पड़ा सोचा करता हूँ, यह कैसी समाज-व्यवस्था है, जिसने एक मानवको कैलासका धवल शिखर और दूसरेको अन्धकार-भरा खड्ड बना छोड़ा है। और हम कैसे हैं कि नरकका यह बोझ ढोते चले आ रहे हैं, करवट लेकर उसे छातीपर-से उलट नहीं देते? यह परिवार हमारी समाज-व्यवस्थाका एक नमूना है—मर्मवेधी और स्पष्ट! पता नहीं इस परिवारमें प्रतिमाके कितने वरद पुत्र हैं, जो गायक, व्यापारी, लेखक और इंजीनियर हो सकते हैं, पर नहीं, उन्हें पाखाना ही ढोना है और हमारे इन 'ऊँचे' परिवारोंमें न जाने कितने अकर्मण्य और बुद्धू हैं, जिन्हें पाखाना ढोना चाहिए, पर नहीं वे लाला, बाबू और पण्डित हो रहेंगे। यहाँ कोई 'क्यों' नहीं कह सकता, क्योंकि यह समाज-व्यवस्था है, धर्मकी आज्ञा है।

हम व्यापारकी धुनमें हैं, यशकी धुनमें हैं, लाभकी धुनमें हैं, पर असलमें तो आज एक ही धुन चाहिए कि यह समाज-व्यवस्था कैसे बदले और इस परिवर्तनमें हम अपना हिस्सा कैसे अदा करें।

'घिरि आयी रे बदरिया सावनकी!'

सावन प्रकृतिका यौवन है और इस सप्ताह तो यह यौवन पूरे उभारके साथ उतरा है। रोज रिमझिम, छमाछम लगी रहती है। 'बदरिया' तो

इस बार कुछ ऐसी लगी है कि बस जमी ही है । पूर्वोत्तर हरीतिमा छा गयी है, दृगोत्तर कमल बरस पड़ा है, उपवना जैसे समुद्रमें जा डूबी, चारों ओर ताज़गी, जीवन और रस । हाँ, बस रस-ही-रस ! आखिर यह सावन है, जिसमें कोई सूरदास हो जाये, तो बस उसे हरा-ही-हरा सूझे । कहते हैं सावनमें मनहूसोंमें भी मस्तीकी रमक आ जाती है ।

यह वह मौसम है, जिसमें सूखे गड्ढे भर जाते हैं, बंजर पृथ्वी भी पेड़पौधोंके रूपमें मुस्करित हो उठती है और खामोश पेड़ भी अपनी सिसकियों-के स्वरमें शामिल हो पड़ते हैं । सावन नीरवता, निरानन्दता, जड़ता, अरसता और मनहूसियतके विरुद्ध एक प्राकृतिक विद्रोह है, जिहाद और क्रान्ति ! ओह यह सावन !

मैं अपने पलंगपर पड़ा सुन रहा हूँ, घिरि आयीं रे बदरिया सावन की । लड़कियाँ और बहुएँ मिलकर गा रही हैं । कोमल कण्ठके साथ ढोलककी ठुमक मिलकर एक समा बाँध देती है, जिसमें रूप है, रस है, जीवन है, यौवन है, पर कहीं दूर भी जिसमें वासनाकी छाया नहीं है ।

भंगी भाईके परिवारने अपने झोंपड़ेके सामने खड़ी पूर्व जन्मकी सहेली-सी बूढ़ी बेरीकी कमर-सी झुके तनेमें एक झूला डाल रखा है, उसमें रातके समय परिवारकी कन्याएँ और बहुएँ झूला झूल रही हैं, गा रही हैं और अपनी छोटी-सी ढुलकियाको टमकोर रही हैं । पासके सब मकानोंकी रोशनी बुझ गयी है, आवाज़ें सो गयी हैं और यह संगीत सारे वातावरणमें मोलसिरीकी भीनी गन्ध-सा व्याप रहा है । पता नहीं और कोई भी इसे सुनता है या नहीं, पर तल्लीन हुआ मैं सुन रहा हूँ । मेरी देह निश्चय ही इस समय इस युगमें है, पर मन चिर अतीतके उस गृहस्थमें रम रहा है, जहाँ प्रतिदिन कोई-न-कोई पर्व-त्यौहार अतिथि रहता था और जिसकी हर कड़ीमें गीतकी गाँठ थी — हमारा जीवन ही तब गीतमय था ।

मैं अपने पलंगपर पड़ा सोच रहा हूँ । सावनकी यह मस्ती क्या इसी दीन परिवारपर बरसी है ? यह सबमें ग़रीब है, हीन है, अभाव-ग्रस्त है,

दुखिया है, फिर भी सावनकी इस फुहार-भरी बदरियाके तले यही क्यों गीतमय है ? जिनके घरमें धन भरा है, कोई अभाव नहीं, जो शिक्षित हैं, 'कल्चर्ड' हैं, जिन्हें संगीतका ज्ञान है, 'टेस्ट' है, जिनके यहाँ रेडियो है, ग्रामोफोन है, सिनेमा जिनके जीवनकी एक ज़रूरत है, उनके महलोंके दीप्तिमान् बल्ब बुझे पड़े हैं और इस ग़रीबकी झोंपड़ीका यह टिमटिमाता दीपक अभीतक प्रकाश-दान करता जा रहा है। क्या सावन इसी झोंपड़ी-का अतिथि है ? उन ऊँची अट्टालिकाओंसे वह रूठ गया है ?

सघन कण्ठोंका यह संगीत मेरे रोम-रोममें पुलक बनकर छा रहा है और प्रत्येक पुलकमें उसीका स्पन्दन मुझे सुनाई देता है। कहीं कोई दूसरा स्वर नहीं है, शब्द नहीं है, जैसे यह सारी सृष्टि ही इस समय गीतमय हो उठी है।

और तभी; भावनाके उस घने आवेशमें भी ज़रा सचेत-सा मैं हो रहा हूँ। इस दैवी चमत्कारका स्रष्टा कौन है ? यह अमृत-वर्षा समाजके इस आँगनमें कौन कर रहा है ? मन मेरा कराह उठा है, यह देखकर कि उस स्रष्टाको मेरे समाजने कुछ नहीं दिया, जो दिया बस जिन-शीर्ण दिया। तभी एक प्रश्न मनमें झाँक उठता है : समाजका यह निरादृत सावनकी इस अँधियारीमें अमृतकी वर्षा कर रहा है और ये जो चारों ओर समाजका अमृत पीनेवाले सो रहे हैं, अमृतकी इस वर्षामें भी निष्पन्द हैं ? यह क्यों ? और मन मेरा जैसे सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म हो समाजकी तह-तहमें उतरा जा रहा है।

हमारे समाजमें जो ऊँचा है, सम्मान्य है, उसने अपनेको धरतीसे पृथक् कर लिया है। उसके भीतर अवकाश नहीं, व्यस्तता है। उसने स्नेह, ममता, दया, बन्धुत्व और सौहार्दके स्थानमें पश्चिमसे उधार लेकर टैक्ट और धन-लिप्साको अपनेमें समा लिया है और उसकी दशा उस मृग-जैसी

है, जिसे सफाईके साथ बीचसे काटकर मूलसे सम्बन्ध-विच्छिन्न कर दिया गया है, पर ऊपरसे जो मूलके साथ मिला, ज्योंका त्यों खड़ा है।

अब यह वृक्ष अपने मूलपर ज्योंका त्यों खड़ा है, पर उससे यह जीवन-रसका ग्रहण नहीं करता। जीवन-रसके इस अभावमें वृक्ष सूखने लगता है, उसकी हरीतिमा सूखी पीतिमामें परिणत हो जाती है। हम विदेशका हरा रंग और वार्निश लेकर उन सूखे पत्तोंपर फेर देते हैं। अब वे पत्ते हरे हैं, चमकीले हैं और देखनेमें सुन्दर भी हैं, पर उनमें अपना जीवन नहीं है। यही दशा हमारे सम्मान्य ऊँचे वर्गकी है। उसका सम्बन्ध व्यापारसे है, व्यवसायसे है, विज्ञानसे है, सभ्यतासे है, पर यह व्यापार, व्यवसाय, विज्ञान और सभ्यता उसकी नहीं है, उसकी जातिकी नहीं है, सब विदेशियोंकी है, गैर है। फलस्वरूप उसमें रंग है, रौनक नहीं है, ऊँचाई है, उभार नहीं है, ग्रहण है, दान नहीं है, 'एग्रीमेण्ट' की बारीकियाँ हैं, कविताकी भावधारा नहीं है। उसका मानस-पात्र भरा है, लबरेज नहीं है, फिर वह छलके कहाँ? जिस बादलमें घुमड़न नहीं वह फुहार क्या देगा?

और मैं फिर अपने पलंगपर पड़ा अनुभव कर रहा हूँ, सारा वातावरण उसी मधुर-मस्त टुमकेसे भरा है और सारी प्रकृति उसमें डूबी, नहायी मग्न बालिका-सी सिमटी, भावलीन है। मन मेरा फिर विचारोंमें डूब चला है। कमलकी सृष्टि कीचमें है और इस गीत-धाराकी मान-अभाव-भरे जीवनमें। मैं उसी जीवनपर कल्पनाकी दृष्टिसे एक सरसरी नजर डाल रहा हूँ। इस लघु-जीवनका सम्बन्ध अभी मूलके साथ है, यह मूलसे जीवनका रस ग्रहण करता रहता है पर इसके पत्तोंमें, जीवनके विकासमें, गरीबी और सामाजिक पदहीनताके कीटाणु हो गये हैं, जो इसे पनपने, लहलहाने नहीं देते। मूलसे इसे जीवन-रस न मिलता, तो यह कभीका सूख जाता!

गीतकी रस-धारामें बहते-बहते मेरी पलकें अब भारी हो गयी हैं और

नींद उनपर अपना डोरा डाल रही है। कानोंकी ग्रहण-शक्ति कम हो चली है, मस्तिष्कमें तन्द्रा है और गीतका स्वर इससे और भी भीना, मधुर हो गया है—प्रकृति जैसे थिरकती-थिरकती, धीरेसे नृत्यकी विशेष मुद्रामें आकर स्थिर हो गयी है। मन वर्त्तमानकी धारासे फिसलकर भावीकी चिन्तामें रम चला है—निंदियाया मन, मेरा मन!

आँखें झप रही हैं और इसी खुमार-भरी झपझपीमें मैं देख रहा हूँ दूसरे परिवर्त्तनके पंखोंपर बैठा भावी युगका धन्वन्तरि आ गया है। उसने यह लो, एक ही धक्केमें उस मूलहीन वृक्षको गिरा दिया है और अपने कलशसे उस दिव्यात्माने दूसरे रोगी वृक्षपर अमृतकी बूँदें डालकर उसे रोगहीन, जीवनपूर्ण, फिरसे लहलहाता कर दिया है।

आजके वातावरणसे और भी दूर अपने उसी पलंगपर पड़ा-पड़ा मैं तन्द्राकी झपझपीमें देख रहा हूँ। उस गिरे वृक्षको चीर-फाड़, लोगोंने ईंधन कर जलाना आरम्भ कर दिया है। साथ ही सूखे वृक्षपर बौर लदा है, जिसकी महकसे कोना-कोना भरा है और विश्व उससे फलदानकी आशामें आँखें बिछाये प्रार्थी है।

•

मेरी तन्द्रा नींदमें बदल रही है। गीतकी ध्वनि और भी मन्द-मधुर हो चली है। अब ध्वनि नहीं, झंकार है और इसी धुँधली-सी चेतनामें मैं सोच रहा हूँ—विदेशी रंग और पॉलिशके दर्पसे दीप्त यह ऊँचा वृक्ष आज नहीं सोचता कि कल उसे अग्निभोज बनना है और आजकी दीनतामें दबा यह दूसरा वृक्ष भी अनुभव नहीं कर पाता कि कल उसे इसी विश्वको अपनी सुगन्धसे भर देना है।

गीत और भी मीठा हो चला है, अनहद नाद-सा और ढोलककी टमकोर बूँदोंकी टप-टप-सी प्यारी। उँगलियाँ ढोलकपर खेल रही हैं। बस, आ गया सम, पड़ी थाप और मेरी चेतना उसीमें रम गयी।

■

दो दिन : दो गोष्ठियाँ

गहराते यौवनकी अमराइयोंमें जब मेरी चेतना पहली अँगड़ाइयाँ ले रही थी, डूब-डूबकर, झूम-झूमकर, कभी गाते, कभी गुनगुनाते राष्ट्रीय पुनरुत्थानके महाकवि मैथिलीशरण गुप्तकी युग-रचना 'भारत-भारती' मैंने पढ़ी थी।

इस पीढ़ीकी गीता ही थी 'भारत-भारती'। उससे प्रेरणा मिली थी, इरादोंने मुट्ठी बाँधी थी, चेतनाने पर पसारे थे, पर यह सब जैसे इस एक ही पंक्तिमें समा गया :

"हम कौन थे ? क्या हो गये हैं ? और क्या होंगे अभी ?"

इस पंक्तिमें तीन रंग थे – अतीतका गौरवसे भरा, वर्तमानका गुलामीके दर्दसे भरा और भविष्यका स्वतन्त्रताकी आशासे भरा। इस तरह दो युगोंसे अधिक समय तक इस पंक्तिका साथ रहा और तब आया १५ अगस्त १९४७–भारतकी स्वतन्त्रताका दिन। मन उस दिन विचारों-का समुद्र हो गया, लहरपर लहर, लहरपर लहर – कुछ स्पष्ट, कुछ धुँधली। उन्हींमें यह भी एक – क्या युग-युग-संगिनी इस पंक्तिका साथ आज छूट गया ? उत्तरमें हाँ, क्योंकि हमारा अतीत महान् था, वर्तमान हीन हो गया था, अब स्वतन्त्रताके साथ हमने खोयी महत्ता फिर पा ली, पर मन इस हाँमें हाँ मिलानेको तैयार नहीं जैसे उसकी कोई बहुमूल्य वस्तु बलपूर्वक छिन रही हो।

जहाँ चाह वहाँ राह, तो चाह है कि इस पंक्तिका साथ बना रहे और राह है उसकी यह व्याख्या – हम गुलाम थे, स्वतन्त्र हो गये हैं और अब हमें अपने महान् राष्ट्रके नि[illegible]र होना है। मोह छिनते-

छिनते बच गयी मेरी युग-युग-संगिनी और इस खुशीमें राष्ट्रके अतीत और भविष्य मिलकर एक गहरे चिन्तनमें समा गये ।

इस चिन्तनको पूर्णता मिली उस दिन लाला जगतप्रसादकी बातचीतमें । वे अपने कोल्ड स्टोरेजकी प्रक्रिया मुझे बता रहे थे कि कैसे फसलपर उसमें आलू रख दिये जाते हैं, ठण्डकके द्वारा कैसे उन्हें बाहरी प्रभावोंसे प्रिजर्व (सुरक्षित) किया जाता है और बादमें कैसे उन्हें बाज़ारमें भेजा और बेचा जाता है । जगतप्रसादजी किसी भी स्थितिमें हों, उनकी बातों का रस और प्रवाह कभी खण्डित नहीं होता । इस प्रवाहमें मेरी चेतना जिस किनारे लगी, वह था यह कि राष्ट्रकी संस्कृति जब समाजके छोटे-छोटे राज्योंमें बँटने और बाहरी आक्रमणोंका ताँता लगनेके कारण सुरक्षित न रही, उसके नष्ट होनेका खतरा पैदा हो गया, तो सन्तोंने उसे तीर्थों, सामाजिक समारोहोंमें और प्रथाओंमें बाँधकर और परिवारकी व्यक्तिगत जीवनकी और जातिकी सामाजिक जीवनकी मुख्य इकाई बनाकर सुरक्षित कर दिया, प्रिजर्व कर दिया कि वह अच्छा समय आने तक बची रहे। भारतकी स्वतन्त्रताका उदय वही चिर-प्रतीक्षित अच्छा समय है – अब हमारी संस्कृतिको कोई खतरा नहीं उसके उगने-पनपने और फैलनेका यह समय है ।

अपने इस चिन्तनको मैंने एक लघु कथामें इस प्रकार संजोकर रख दिया :

नन्दन अपने गाँवका एकमात्र धनी था । सारे गाँवमें उसकी ऊँची हवेली दूरसे दिखाई देती थी । आस-पास चारों ओर उसका नाम फैला हुआ था ।

उस दिन खबर उड़ी कि आज सन्ध्याके समय गाँवमें डाका पड़ेगा और खबर क्या उड़ी, गर्वोन्मत्त डाकू सरदारने खुद ही यह खबर भेजी थी। गाँवमें और तो सब ग़रीब थे, डाकू भला उनका क्या लेते – क्या बिगा-

रही। उनके लिए तो गाँवकी लाज न्यायोचित थी। वे पूरी तरह विश्वस्त थे कि डाकेका लक्ष्य नन्दनके नाम ही है।

नन्दन भी यह जानता था। वह उस दिन, दिन-भर अपनी हवेलीके किवाड़ बन्द किये भीतर घुसा रहा। कैसे वह डाकुओंसे अपने माल, मान और प्राणकी रक्षा करे, यही उसकी चिन्ता थी।

सोच-विचारकर उसने अपना जेवर और धन अपनी हवेलीके पीछे-की दलदलमें इधर-उधर बिखेर दिया। मोतियोंका हार नेवलेके बिलमें रखा, तो सोनेकी ईंटें भूसेमें डाल दी, गिन्नियाँ गायके गड्ढेमें दबायीं तो रुपयोंकी थैलियाँ कूड़े करकटके ढेरमें भर दीं। यही उसने दूसरे कीमती सामानका किया।

उसकी हवेलीके पिछले हिस्सेमें एक बड़ा-सा गड्ढा था। उसमें वह स्वयं बैठा और अपने ऊपर उसने एक टूटा-सा टोकरा ढाँक लिया। सन्ध्या होते ही हवेलीका द्वार उसने खुलवा दिया और एक भी कमरा ऐसा नहीं छोड़ा, जिसका द्वार बन्द हो या जिसमें कुछ भी व्यवस्थित हो। उसे उस गड्ढेमें बैठे टोकरेकी झिरियोंसे सारी हवेली दिखाई दे रही थी।

दलबल सहित रातमें डाकू आये, तो वे सीधे नन्दनकी हवेलीपर पहुँचे। उन्हें विश्वास था कि वहाँ एक पूरे युद्धकी तैयारी होगी, पर यहाँ तो द्वार खुले हुए थे। चौकन्ने-से भीतर वे भीतर घुसे, पर हवेली तो बिखरी-सी पड़ी थी।

"भाग गया शैतान और सारी दौलत भी साथ ही ले गया।" डाकुओं-के सरदारने कहा और वे सब हाथ मलते लौट गये। नन्दनका दिल पहले तो धड़कता रहा, पर अब वह मुसकरा रहा था।

दूसरे दिन गाँवके बड़े-बूढ़ोंने नन्दनके धैर्य और बुद्धिमत्ताकी प्रशंसा की, पर कई दिन बाद भी उन्होंने नन्दनको उसी गड्ढेमें अपनेको ढँके बैठे देखा, तो उन्हें आश्चर्य हुआ।

उन्होंने उसे समझाया कि अब कोई खतरा नहीं है। अपने घरको फिरसे व्यवस्थित करो, अपनी सम्पदाको सुन्दर अलमारियोंमें सजाओ और स्वयं भी अपने सुखद पर्यंकपर सोना आरम्भ करो।

नन्दन सबकी सुनता है, सिर हिलाता है, पर मानता नहीं। कहता है, जिस पद्धतिने मेरे प्राण बचाये, धन-सम्पदाकी रक्षा की, उसका त्याग भला मैं कैसे कर सकता हूँ?

सब उसे समझाते हैं कि वह संकट-कालकी नीति थी। उस समय उसका व्यवहार करनेके लिए हम तुम्हारी प्रशंसा करते है, पर आज तो उसका पालन एक विडम्बना है। कल जो सुरूप था, आज वह कुरूप है। जब वह परिस्थिति ही नहीं तो वह नीति-पद्धति कैसे ठीक रहेगी? उसे छोड़ो और अपना रूप ग्रहण करो।

नन्दन बहसें करता है और एकसे एक बढकर तर्क खडा करके उस पद्धतिका समर्थन करता है। सब देखते है कि उसकी सुन्दर हवेली सूनी और उजडी पड़ी है और उसकी धन-सम्पदा भी खोखरों-गड्ढोंमें बिखरी है। बात-चीतसे अनुमान होता है कि अब वह यह भी भूलने लगा है कि कौन चीज़ किस खोखर या गड्ढेमें है, पर वह सन्तुष्ट है और स्वयं उस टोकरेसे ढँके गड्ढेको ही अपना शयनकक्ष बनाये हुए है।

श्रद्धामें डूबकर वह उन खोखरों-गड्ढोंको पुकारता है रीति-प्रीति और उस बडे गड्ढेको कहता है जन्मकूप।

सब देखते हैं कि उसकी सुन्दर हवेली सूनी-उजडी पड़ी है, उसकी धन-सम्पदा उन गड्ढों-खड्ढोंमें बिखरी है और वह स्वयं भी उस टोकरेसे ढँके गड्ढेको ही अपना शयनकक्ष बनाये हुए है।

'अंगरेज़ोंने अपने लगभग दो शताब्दीके शासनमें भारतको सांस्कृतिक और बौद्धिक दृष्टिसे नष्ट-भ्रष्ट करनेके योजनापूर्ण प्रयत्न किये थे। उन्हें जो सफलता मिली, उसका साक्षात्कार मुझे पहली बार हुआ।

इन सर्वनाशी प्रयत्नोंके बाद भी, सन्तोंके द्वारा सुरक्षित—प्रिजर्व की गयी हमारी संस्कृतिमें जीवित रहने और फलनेकी इच्छा एवं शक्ति कितनी फौलादी है, इसका साक्षात्कार भी मुझे पहली बार हुआ।

ये दोनों साक्षात्कार मुझे टाइम्स ऑव इण्डिया बम्बई और भारतीय ज्ञानपीठ कलकत्ता-द्वारा संयुक्त रूपमें संयोजित उन गोष्ठियोंमें हुए, जो पहली-दूसरी अप्रैल १९६२ को भारतकी राजधानी नयी दिल्लीमें हुई और जिनमें सम्मिलित होनेका अवसर मुझे भी मिला।

यों तो जलसे-जुलूस-गोष्ठियाँ १९२० से मेरे जीवनका वैसा ही अंग रही हैं, जैसे व्यापारीके लिए हिसाब-किताब, पर इन गोष्ठियोंमें भाग लेकर मुझे असाधारणताका अनुभव हुआ – विराट् राष्ट्रकी महान् संस्कृतिके सम्पर्क-तादात्म्यका बोध हुआ और इस प्रकार दिल्लीके ये दो दिन मेरे लिए सदा-सदाको स्मरणीय हो गये, क्योंकि इन दो दिनोंमें मैंने युग-युगोंमें दबी संस्कृतिकी बेलमें नये पत्ते उगते देखे – प्रिजर्वको ग्रोमें बदलते देखा और मुझे लगा कि हमारे राष्ट्रके सांस्कृतिक पुनर्जन्मकी झाँकी ही मैं अपनी जागती आँखों देख रहा हूँ।

पंजाब नेशनल बैंककी विशाल बिल्डिंगका भव्य गोष्ठी-भवन, साहू शान्तिप्रसाद जैनकी निर्माण-प्रतिभाका प्रतीक-सा। देशके अनेक भागोंसे आये, अनेक भाषाओंके प्रतिनिधि कोई दो-सौ साहित्यकार अपने-अपने आसनपर, सभापतिके आसनपर भारतीय ज्ञानपीठकी व्यवस्था-मूर्ति अध्यक्षा श्री रमा रानी जैन और उनके पास प्रतिभाशाली साहित्यकार और 'धर्म-युग'के सफल सम्पादक श्री धर्मवीर भारती – गोष्ठीके संयोजक।

भवन, एयर कण्डीशण्ड कि गर्मी आये या सर्दी, रहे बाहर ही – बाहरी प्रभावोंसे अछूते योगीके मन-सा, फोटो-ग्राफर तैयार कि कोई सामने आये, तो उसे सदाको छाप ले, टेपरिकार्डिंगकी मशीन सावधान कि कोई कुछ बोले, तो उसे सदाको टाँप ले और जागरूक माइक कि हर साँसे

शब्दका भीने रसमें पागकर हरेकके कान तक पहुँचा दे।

यों ऐहिक अमरताके वैज्ञानिक साधनोंसे समन्वित वातावरण कि माइकके सामने श्री प्रतापराय – टाइम्स ऑव इण्डियाके जनरल मैनेजर – उत्सवकी भाषामें आजके स्वागताध्यक्ष। भरा-उभरा व्यक्तित्व, गहराइयोंसे उभरती-सी आवाज और सधे-तुले शब्द कि थोड़ेमें स्वागत भी और विचार-विषयका परिचय भी।

आकृतिमें उम्रकी तरुणाई तो प्रकृतिमें अनुभवकी प्रौढ़ता, खादीके कुरते-पाजामेपर बम्बइया जवाहरकट कि नीचेकी तरफ बस एक बटन और गहरे कलफ़दार दाबदार हाथमें की गयी इस्तरीके बल, ऊपरकी उभरती-खुलती कि जैसे वह बण्डी न हो, नये फ़ैशनका कॉलर ही हो – सब कुछ एकदम बुर्राक, ये आये माइकपर श्री धर्मवीर भारती।

टाइम्स ऑव इण्डिया-प्रकाशन बम्बईने योजना बनायी है कि हिन्दी-की पुस्तकोंका (आगे चलकर संविधान-स्वीकृत सभी भाषाओंका) अँगरेज़ी-में अनुवाद कर उन्हें विदेशी पाठकोंके सामने रखा जाये – विश्वमें फैलाया जाये। इस योजनाको हाथमें लेते ही कुछ प्रश्न सामने उठकर उभर आये हैं। उनका समाधान खोजना ही गोष्ठीका उद्देश्य है।

मुख्य प्रश्न है अनुवादके लिए पुस्तकोंके चुनावका। भारतीय साहित्य-कारोंके लेखनकी प्रकृति और विदेशी पाठकोंकी अभिरुचिमें साम्य-वैषम्यका अनुपात देखकर क्या यह उचित है कि हम भारतीय जीवन-दृष्टिको प्रधा-नता दें? यदि हाँ, तो वह जीवन-दृष्टि क्या है? या फिर पुस्तकोंकी कलात्मक श्रेष्ठताको ही प्रधानता दें, जिनसे यह सिद्ध हो सके कि विश्व-के सामयिक साहित्यमें भारतीय लेखकोंका भी एक अपना स्थान है? इन दोनोंको लें, तो समुचित अनुपात क्या हो?

और यों गोष्ठी आरम्भ हो गयी। जन्मसे महाराष्ट्रीय, पर कर्मसे गुजरातीके साहित्यकार राष्ट्रसाधक काका कालेलकर माइकपर। राष्ट्रीय वेष, राष्ट्रीय भाषा और राष्ट्रीय दृष्टि – भाषण सरस भी, सबल भी,

सुझावपूर्ण थी, देखकर मन प्रसन्न हुआ, सुनकर सन्तुष्ट और तब भाषण-ही-भाषण।

भाषण-कर्त्ताओंमें ज्ञानी भी, अनुभवी भी – ज्ञानी उलझे हुए, अनुभवी सुलझे हुए, ज्ञानी लच्छेदार, अनुभवी सादे। भाषाकी दृष्टिसे अँगरेजीकी भरमार, कहूँ बाढ़ कि भारतका किनारा कहीं हाथ ही न आये, जैसे अँगरेज अपना राज्य अपने मानस-पुत्रोंको सौंपकर गये हों, भारतकी जनताको नहीं।

कोई तीन घण्टे यह विचार-चर्चा चली। मेरा चिन्तन यह था – अनुवादके लिए पुस्तकके चुनावकी कसौटी यह हो कि उससे भारतके *सम्बन्धमें विदेशी पाठककी सम्मति ऊँची बने और हर पुस्तकमें ऐसी* भूमिका रहे, जो भारतकी प्रकृतिसे पाठकको आरम्भमें ही इस तरह परिचित करा दे कि वह पृष्ठभूमिको समझता रहे। उदाहरणके लिए प्रेमचन्दके गोदानका अनुवाद हो, तो भूमिकामें जमींदारोंके समयमें भारतीय देहातोंकी स्थितिका परिचय हो।

भोजनके बाद गोष्ठीकी दूसरी बैठक, सभापतिके आसनपर श्रीराघवन तमिल तथा संस्कृत भाषाके समर्थ विद्वान् और दक्षिण भारतके यशस्वी सायक; शान्त-सौम्य विशिष्ट व्यक्तित्व।

विचारणीय विषय अनुवाद-प्रक्रिया कि .

१. किस प्रकारके ग्रन्थोंमें मुक्त अनुवादकी गुंजाइश है ?

२. अनुवादमें अँगरेजी मुहावरोंकी चुस्ती लानेके लिए क्या किया जाये ?

३. जिन शब्दोंका प्रचलित अँगरेजी रूप नहीं मिलता, उनके सम्बन्धमें क्या नीति अपनायी जाये ?

४. क्या भारतीय मुहावरोंको ज्यों-का-त्यों उतारें ?

५. जिसे भारतीय अँगरेजी कहा जाता है, उसके उपयोगके सम्बन्धमें

हमारा दृष्टिकोण क्या हो ?

६. क्या छन्दबद्ध कविताओंका अनुवाद अँगरेज़ी छन्दबद्ध तुकान्तमें होना चाहिए या अँगरेज़ी मुक्त छन्दमें ?

भाषणोंकी झड़ियाँ और सुझावोंकी लड़ियाँ आरम्भ, पर बाप रे, अँगरेज़ी-ही-अँगरेज़ी, यहाँतक कि अँगरेज़ोंकी तरह अँगरेज़ी बोलनेवाले अध्यक्षको कहना पड़ा कि 'मैं अच्छी तरह हिन्दी समझता हूँ, आप लोग हिन्दीमें बोलें !' – पर कोई असर नहीं, अँगरेज़ी-ही-अँगरेज़ी ।

और कह क्या रहे थे ये काले अँगरेज़ ? अपनी-अपनी राय दे रहे थे हिन्दीसे अँगरेज़ीमें अनुवाद करनेकी दिक़्क़तोंपर, पर एक बात सब समान रूपसे कह रहे थे कि अनुवाद करनेके लिए या किये हुए अनुवादोंका सम्पादन-संशोधन करनेके लिए अँगरेज़ विद्वानोंका सहयोग ज़रूरी है, अनिवार्य है, इसके बिना प्रामाणिक अनुवाद हो ही नहीं सकता ।

मुझे स्वर्गीय व्यायामाचार्य प्रोफ़ेसर राममूर्ति याद आ गये । उन्होंने अपनी यूरॅप यात्राके बाद १९१२-१३ में लिखा था कि इंगलैण्ड जानेवाले भारतीयोंको सिरपर साफ़ा बाँधना चाहिए, क्योंकि हैट लगानेवाले भारतीयोंको आम लोग भारतीय ईसाई मानते हैं और विदेशी पादरी भारतमें चाहे जो कहें, इंगलैण्डमें भारतीय ईसाइयोंको लोग नफ़रतकी निगाहसे देखते हैं ।

वही हाल अँगरेज़ीके इन भारतीय भक्तोंका है । अँगरेज़ी कविताके कारण सरोजिनी नायडू भारत-कोकिला हो गयीं, पर इंगलैण्डमें छपे किसी भी महत्त्वपूर्ण कविता-संकलनमें उन्हें किसी अँगरेज़ने स्थान नहीं दिया।

मनमें विचार आया कि डेढ़ सदी तक, डण्डेके ज़ोरसे, गला घोटकर अँगरेज़ तीन फ़ीसदी भारतीयोंको ही जिस भाषाका साधारण ज्ञान करा सका और उसके विद्वानोंको इस लायक भी नहीं बना सका कि वे उसमें अनुवाद करके ही साहित्यके तीसमारखाँओंमें अपना नाम लिखा लें, उस भाषाकी हिस्टीरिया जिन लोगोंके सिर इस क़दर सवार है कि वे अपनोंमें

अपनी देश-भाषा जानते हुए भी उसे बोलना पसन्द न करें, उन्हें देशके दुर्भाग्य-कालकी कम्बख्त पीढ़ीके अतिरिक्त क्या कहा जाये और जब देशका नैतिक और राजनैतिक नेतृत्व भी उसी पीढ़ीके हाथमें हो, तो क्या सोचा जाये?

यह सच है कि अनुवादका काम सरल नहीं है। इस सम्बन्धमें बहुत कुछ कहा गया, पर सर्वोत्तम यह था, जो स्वयं डॉ० राघवनने कहा, "अनुवाद और नारीमें एक बड़ी समानता है कि अनुवाद यदि रोचक होते हैं, तो शुद्ध नहीं होते और शुद्ध होते हैं, तो रोचक नहीं होते।"

सुनकर मुझे भारत-सरकारके पूर्व सूचना-मन्त्री डॉ० केसकर याद आ गये। उन्होंने रेडियोके एक साहित्य-समारोहका उद्‌घाटन करते हुए कहा था, "अनुवादके द्वारा हम पाठकको कृतिका मूल सौन्दर्य नहीं दे सकते यह सच है, पर उसका प्रतिच्छवित सौन्दर्य (रिफ्लैक्टेड ब्यूटी) दे सकते हैं, यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं।"

फिर सबसे बड़ी बात यह है कि अभीतक संसारमें यही हुआ कि दूसरी भाषाके रत्नोंका विद्वानोंने अपनी भाषामें अनुवाद किया है। इस प्रयत्नकी महत्ता और नवीनता ही यह है कि यहाँ विद्वान् अपनी भाषाके रत्नोंका दूसरोंकी भाषामें अनुवाद करनेके लिए प्रस्तुत-प्रवृत्त हैं।

क्या यह हीनता है? क्या यह घोषणा है? नहीं, यह परमता है, प्रतिदान है, कहूँ राष्ट्रीय सत्कर्म है। इससे भी बढ़ूँ, तो कहूँ कि यह अतीतमें महान् विवेकानन्दके द्वारा आरम्भ किये संस्कृति-प्रचारका हम-साम्य उद्यापन है।

"दीवानजी, आज तुम मुझे सड़कके बीच बैठकर सबके बेवनेपर गालियाँ दे रहे हो, दे लो, कोई बात नहीं, पर गान्धी महाराजका नाम तो सुना होगा तुमने! वे हमें आज़ादी दिलानेवाले हैं। उस दिन देखना, मैं सड़कके बीचमें यही होटल बनाकर बैठूँगा।"

गुलाम भारतके किसी कुँजड़े भाईने अँगरेज़ी राजके किसी पुलिस-

दीवानको मत प्रदान किया था। स्पष्ट है कि जनता विविध बन्धनों जकड़ी थी और उसकी कल्पनायें एवं आशा-इच्छाओंकी पूर्तिका समाधान अनिर्णीत था। यही कारण है कि स्वतंत्रताके पहले ही जन-मन स्वाधीनता-की ओर नहीं, स्वतन्त्रताकी ओर बढ़ा और सपनोंकी [illegible] इसी तरह थी कि यह स्वतन्त्रता [illegible] ही [illegible] तट आ लगी। इस समय भाई भाषाके नामपर, बिहारी असमी, बंगाली, मराठे, गुजराती, सिख, हिन्दू इस तरह लड़ते दिखाई दिये, जैसे ये जन्म-जन्मके बैरी हों और जिनमें भाईचारा नहीं, [illegible] हो। बम्बई और पंजाबमें इस आकुलताका प्रदर्शन हुआ, जिसने देशको टुकड़ा ही [illegible] पर बनो; क्योंकि अब देशके लिए भाषा नहीं, भाषाके लिए देशको बलि देनेका उप-क्रम हो रहा था।

कितनी विचित्र बात है कि भाषा, जो मनुष्यको मनुष्यके पास लाती है, मनुष्य-मनुष्यको एकताका वाहन बनाती है, मनुष्यको मनुष्यसे खूँख्वार भेड़ियोंकी तरह लड़ा रही थी; क्योंकि वह सहयोगकी राह भूल, संघर्षके पथ जा पड़ी थी। जागरूक देश-वत्सलोंके लिए यह स्थिति भयावह थी और राष्ट्रकी बौद्धिकता चिन्तित थी कि क्या राष्ट्रकी पन्द्रह भाषाओंके बीच स्वस्थ सम्पर्कका कोई मंच नहीं हो सकता, जहाँ सब समान अधि-कार और समान दायित्वके साथ बैठें, मिलें और देखें कि वास्तविक परि-स्थितियाँ भावात्मक हैं, अभावात्मक नहीं, संयोगात्मक हैं, वियोगात्मक नहीं, सम्पर्कात्मक हैं, संघर्षात्मक नहीं; संक्षेपमें संगठनात्मक हैं, विघट-नात्मक नहीं।

२ अप्रैल १९६२ को प्रदेश-प्रदेशसे पधारे विविध भाषाओंके समर्थ साहित्यकारोंकी उपस्थितिमें जब भारतीय ज्ञानपीठकी अध्यक्षा श्रीमती रमा रानी जैनने भारतीय ज्ञानपीठ-पुरस्कारकी घोषणा की, तो लगा कि यह उस स्वस्थ सम्पर्क मंचके उद्घाटनकी ही घोषणा है।

उनकी घोषणाके शब्द थे, "लेखक यद्यपि आभ्यन्तर बाध्यताके

[illegible] लिखता है और कई अन्य भाषाओंके क्षेत्रमें ही कोई कृति चर्चित हो पाती है, जो न अत्यधिक [illegible] तथा उनकी प्रतिभाके फलके प्रति [illegible] करते हैं कि उनकी कृतियोंका [illegible] और [illegible] किया जाता है। राष्ट्रीय पुरस्कार [illegible] भाषाओंके [illegible] है।

भारतमें, जहाँ प्रत्येक भाषाकी अलग-अलग सर्वश्रेष्ठ कृतिके लिए कितने ही प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय पुरस्कार हैं, वहाँ कोई ऐसा पुरस्कार नहीं है, जो इन सब भाषाओंकी सम्मिलित चुनी हुई सर्वश्रेष्ठ कृतिके लिए हो। ऐसे पुरस्कारकी संस्थापना राष्ट्रीय आवश्यकता है और ऐसा पुरस्कार इतना बड़ा भी होना चाहिए कि राष्ट्रीय गौरव तथा अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डके अनुरूप हो।

भारतीय ज्ञानपीठ नामक शोध एवं सांस्कृतिक प्रतिष्ठानकी स्थापना संस्कृत, प्राकृत, पाली, तमिल आदि भाषाओंके अनुसन्धान एवं अप्रकाशित प्राचीन भारतीय वाङ्मयके प्रकाशन तथा आधुनिक भारतीय भाषाओंमें सर्जनात्मक साहित्य रचनाको प्रोत्साहन देनेके उद्देश्यसे श्री शान्तिप्रसाद जैन-द्वारा १९४४ में हुई थी। उनकी योजना है कि समस्त भारतीय भाषाओंमें सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वोपरि साहित्यिक सृजनात्मक कृतिपर एक लाख रुपये प्रतिवर्ष पुरस्कार-दानके निमित्त आयोजित निधि प्रस्तुत कर, योजनाका संचालन करे।

प्रत्यक्ष ही कार्य अत्यन्त कठिन है, पर कठिनाई अलघ्य नहीं है। राष्ट्रीय महत्वका यह कार्य सम्पन्न करना ही है, फिर उसमें जितना भी श्रम पड़े और जो भी व्यय हो!"

और यों विचार-गोष्ठी आरम्भ हो गयी। गोष्ठीके संयोजक हैं श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन : सधे-संयत व्यक्ति और स्वर ऐसा कि लगे कहीं दूरसे

नकर आ रहा है — एकदम सन्तुलित और स्निग्ध। कहूँ एक अन्तर्मुख र्मलीन व्यक्तित्व। उन्हें मैं कोई पचीस वर्षोंसे देख रहा हूँ निकटसे, दूर-। एक गहरी रचनात्मक प्रतिभाके स्वामी हैं वे और यद्यपि उन्होंने कम लखा है, पर यह कम मात्रामें भले हो कम हो, यात्रामें कम नहीं है — वरस्थायी है। गंगा वोलगाके संगमपर, असीम आकाशके वितानमें और क डाकू, दो खत, तीन दृष्टियाँ जैसे उनके रिपोर्ताज अपनी जीवन-दृष्टि ौर शिल्प-शैलीके कारण युगकी सर्वश्रेष्ठ कृतियोंमें निश्चय ही स्थान ायेंगे।

उनके निमन्त्रणपर वय-साधना-अनुभव-वृद्ध काका कालेलकरने अपनी शस्त शैलीमें पुरस्कार-योजनाका स्वागत और पुरस्कर्ताओंका अभिनन्दन किया। यह स्वागत और अभिनन्दन इतना भाव-भीना, इतना हार्दिक कि ोष्ठीका वातावरण इतना मांगलिक हो उठा कि जैसे किसी कुएँके पास माँ-हनोंके रसलीन लोक-गीतोंकी गुंजारमें वटका वृक्ष रोपा जा रहा हो।

केन्द्रीय मन्त्री, मुख्य मन्त्री, और राज्यपालके पदोंपर सफलतापूर्वक ाम करनेवाले श्री हरेकृष्ण मेहताब — साहित्यिक भी, राजनीतिज्ञ भी; ता भी, कार्यकर्त्ता भी। कहूँ आकाशचारी होकर भी धरतीके आदमी। भी तो उन्होंने एक वाक्यमें वह सब कुछ कह दिया, जो आवश्यक था — यह पुरस्कार राष्ट्रीय एकताका सदनुष्ठान है और मेरा विश्वास है कि ह योजना धीरे-धीरे आत्मविकास करेगी।"

संसारका कोई भी संविधान अपूर्ण है, अयोग्य है, यदि वह संवैधा-नक परम्पराओंका सहारा न ले, पर क्या कभी और कहीं ये परम्पराएँ विधानके साथ जनमी हैं ? ना, ये धीरे-धीरे नयी परिस्थितियों और ावश्यकताओंमें जनमी हैं। इसीका अर्थ है "योजनाका आत्म-विकास।" से भूलनेके कारण ही अनेक आशंकाएँ भाषणोंमें प्रकट हुईं, अनेक सुझाव ाये, पर इसका एक शुभ्र पक्ष भी है कि लाख रुपये पुरस्कारके महान् नुष्ठानकी घोषणासे राष्ट्रके साहित्य-साधकोंका चिन्तन जागृत हो उठा है।

इसका अर्थ है कि घोषणाका उसके जन्म लेते ही राष्ट्रव्यापी प्रभाव पड़ा है। मेरा मन कल्पनाके वशमेंसे उस ऐतिहासिक समारोहको देखने लगा, जो १९६५ में किसी साधकको प्रथम पुरस्कार प्रदानके लिए होगा। पुरस्कार प्राप्तकर्त्ताका साफ चेहरा तो मुझे दिखाई नहीं दिया, क्योंकि वह पुरस्कार-प्रदाता राष्ट्रपतिके सामने झुका हुआ था, पर इतना मैं साफ देख पाया कि वह साधक हिन्दी भाषी नहीं है। मुझे तो अपना यह कल्पना-दर्शन शुभ-शकुन-सा लगा।

चर्चा रही कि ज्ञानपीठ पुरस्कार एक लाखका न होकर दस-दस हजारके दस रूपोंमें दस लेखकोंको प्रतिवर्ष दिया जाये। बढ़कर यह चर्चा पचीस-पचीस हजारके चार भागों तक पहुँची, पर संस्थापक विशाल भारतके इस पुरस्कारको खण्डित करनेके लिए तैयार न थे। मनमें प्रश्न उठा—इस विचारका मर्म क्या है ? उत्तर मिला—दैन्य ! लम्बी गुलामीने हमारे अन्तर्को दैन्यसे भर दिया है और हम अपनी पात्रताके प्रति अविश्वासी हो गये हैं, अरे, लेखकको एक लाख रुपये !!

चर्चाके बीचमें श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन गोष्ठीमें आये, तो उनसे मंच-की कुरसीपर बैठनेको कहा गया, पर वे वहाँ नहीं बैठे और लेखकोंके बीच ही एक कुरसीपर बैठ गये। ज्ञानपीठ-पुरस्कारकी आत्मा हैं वे, तो प्राण-चेतना हैं रमा रानीजी। इस स्थितिमें उनका वहाँ बैठना सबको भाता, पर साहूजीमें असाधारणताके आकाशमें उतरकर, उतरे रहकर जीने-जागनेकी एक ऐसी सुकुमार वृत्ति है कि उससे उनकी सरल, सहयोगी मानवीयता सदा प्रदीप्त रहती है।

साधकोंकी इस गोष्ठीमें मक्खियाँ भी थीं। उन्हें इस घोषणामें 'पुरस्कार दाताओंके दो फेवरेट लेखकोंको सम्मानित करनेके बाद योजनाके ठप्प होने-का षड्यन्त्र' दिखाई दिया, पूँजीवादके प्रचारकी गन्ध आयी, लेखकोंकी दासता दीखी, पर सोचता हूँ मक्खियोंकी भिनभिनाहटका रिकार्डिंग् हो हम क्यों करें ?

पुरस्कारका संविधान संयुक्त राष्ट्र और दूसरे विश्व-पुरस्कारोंके संविधानोंका अध्ययन कर बनाया जा रहा है और यह एक विशाल तन्त्रका रूप लेगा, पर श्रीमती रमा रानीजीने जो रूप-रेखा दी और बादमें बीच-बीचमें श्री लक्ष्मीचन्द्र जैनने जो स्पष्टीकरण किये, उनसे स्पष्ट है कि पुरस्कारका संविधान शुद्ध प्रजातन्त्री और प्रतिनिध्यात्मक होगा और संस्थापकोंका हाथ उसमें स्पर्शमात्र ही रहेगा। संस्थापकोंकी यह वृत्ति भी मुझे स्पृहणीय लगी कि वे पुरस्कारपर अपना या अपने पूर्वजोंका नाम लगानेके लोभको संवरण कर सके और उसकी घोषणा भी उन्होंने अपनी ओरसे न कर एक सार्वजनिक संस्था भारतीय ज्ञानपीठकी ओरसे की। निश्चय ही इसके लिए भविष्य उनका अभिनन्दन करेगा।

मैंने कहा कि पुरस्कार-घोषणासे साहित्यकारोंमें गहरा चिन्तन जागृत हुआ, पर यह चिन्तन कितना पहुँचगी है, इसका अनुभव मुझे तब हुआ जब श्री जैनेन्द्रकुमारने कहा, "ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि पुरस्कारका धन लेखक तक पहुँच सके। ऐसी व्यवस्था न हुई, तो सरकारका इनकमटैक्स-विभाग आधा धन ले लेगा।" सुनकर सोचा, ब्राह्मणवेषी जैनेन्द्रका अन्तर्वासी वैश्य कितना जागरूक है!

यह आये माइकपर लक्ष्मीचन्द्र जैन कि धन्यवाद दे विसर्जन करें कि अपनी जगह खड़े होकर कविवर श्री सियारामशरण गुप्तने कहा, "अस्मिन् द्वयं श्रोश्च सरस्वती च।" (इसमें दोनों हैं, लक्ष्मी भी, सरस्वती भी)। लक्ष्मीचन्द्रजीने उन्हें माइकपर आनेको कहा, तो बोले, "बस मुझे इतना ही कहना है।" मैंने सोचा, काकाजीने इस गोष्ठीका मांगलिक समारम्भ किया था और सियारामशरणजीने यह कर दिया मांगलिक समारोप, तो मंगलम्, मंगलम्, मंगलम्, इस ज्ञानपीठ-पुरस्कारकी सफलता निर्विघ्न है।

और बस मेरा मन फिर गहरे उतर गया और उसमें एक प्रश्न उभरा, यह सब हुआ क्या?

यह सब वही हुआ, जो आरम्भमें कह चुका हूँ, सर्वनाशका खतरा

उत्पन्न होनेपर सबोंके द्वारा सुरक्षित, प्रिउर्व की गयी हमारी संस्कृतिमें जीवित रहने और फैलनेकी फौलादी इच्छा एवं शक्तिका साक्षात्कार। स्पष्टताके लिए इतना और, पहली गोष्ठी है संस्कृति-वल्लरीका बाह्य फैलाव कि हम दूसरोंमें लेते ही न रहें, उन्हें परसें भी। यहें, यह है हमारी पुण्याञ्जलि, प्राप्त दानकी कृतज्ञतामें प्रतिदान और दूसरी गोष्ठी है उसी संस्कृति-वल्लरीका अन्त फैलाव कि जड़ें एक-दूसरीमें मिलकर यों पुष्ट हों कि पृथ्वीसे रस लेकर पुष्पोंकी सर्जनामें सहायक होती रहें।

वेदने कहा है, "शतहस्तं समाहर, सहस्रहस्तं सकिर।" अर्थ है, सौ हाथोंसे शक्तिका संचय कर, हज़ार हाथोंसे उसे बिखेर, तो दूसरी गोष्ठीका विषय है शक्तिका संचय और पहली गोष्ठीका विषय उसका वितरण। एक है नींव तो दूसरी है कलश; दोनों मिलकर संस्कृतिके भवनको परिपूर्णता देते हैं।

गोष्ठियोंकी पूर्णतापर मनमें आया — श्रीमती रमा रानी जैनके पारिवारिक व्यक्तित्वको दिगम्बर जैन महिला-परिषद्के नेतृत्वने सामाजिक बनाया, तो भारतीय ज्ञानपीठके संचालनने सांस्कृतिक रूप दिया, पर अनुवाद-योजना और पुरस्कार-घोषणाने निश्चय ही उन्हें स्मरणके योग्य एक राष्ट्रीय व्यक्तित्व बना दिया है।

■

अपने भंगी भाइयोंके साथ

होली है हमारे राष्ट्रकी मस्तीका त्योहार !

मस्ती पाबन्दियोंको नहीं मानती और पिछली शताब्दियोंमें हमारे राष्ट्रकी आत्मा घोर पाबन्दियोंसे रही घिरी है । ये पाबन्दियाँ हैं धर्मकी, समाजकी, आचार-विचारकी, विधि-निषेधकी, छोटे-बड़ेकी, स्पृश्य-अस्पृश्यकी ।

होली इन सब कड़े और दमघोटू बन्धनोंको भूलकर स्वतन्त्रता ही नहीं, स्वच्छन्दता अनुभव करनेका त्योहार है – भले ही केवल एक दिनके लिए ।

केवल एक दिनके लिए ? हाँ, केवल एक दिनके लिए, पर इस एक दिनका बहुत महत्त्व है । कितना ? बहुत-बहुत, पर यह बहुत ऊपरी नहीं, सूक्ष्म है और जरा गहरेमें उतरकर इस सूक्ष्मको अपनेमें लेना होगा ।

मेरे नगरमें एक छोटी-सी सड़क है, जो कचहरीकी सड़कको रेलवे कॉलोनीकी सड़कसे जोड़ती है । यह सड़क रेलवे विभागने अपने खर्चेसे बनवायी है, पर है यह म्युनिसिपल बोर्डकी सीमामें और नगरके सभी लोग इसका उपयोग करते रहते हैं ।

रेलवे विभाग वर्षमें एक दिन इस सड़कको आम जनताके लिए बन्द कर देता है और इस तरह सड़कपर उसके अधिकारकी घोषणा हो जाती है ।

यही बात होलीकी है । वह वर्षमें एक दिन हमारे समाजके बन्धनोंको व्यर्थ घोषित कर, सबको समानताका सन्देश ही नहीं, एक सुन्दर प्रदर्शन हमें दे जाती है । लोक-भाषामें होली शूद्रोंका पर्व कहलाता है । उसका

होलीका दिन आया। मैं अपनी कुटियामें रंग-गुलालपर था, फूल और गुलाल, मालीने अपनका बनाये, पर त्योहार तो जनताको भी खुशी देते हैं। मुझे भी खुशी आ रही है कि किसीके साथ होली खेलूँ।

तीसरा पहर आते-न-आते यह खुशी जरा निखर चली, तो मैं उठा और पास ही अपने स्टेशनपर आया। यह स्टेशनका मुसाफिरखाना, जिसमें स्टेशनके साहेबानके लिए विश्रामगृह बने हैं और साफ-सुथरी बेंचें बिछी हैं। वहीं पास ही नई बनावटके मुसाफिरखानेकी टट्टियाँ हैं। मुझे वहीं जाना था, मैं पहुँच गया। दो भंगी वहाँ बैठे थे। मुझे वे जानते हैं, खड़े हो गये, "पण्डितजी, राम राम।"

"राम राम चौधरी साहब!" मैंने कहा और साथ ही यह भी कि, "होलीकी बधाई भैया!"

दोनोंने समझा मैं शौचके लिए ही आया हूँ और उन्होंने एक साफ-सा तामलोट आगे बढ़ाया।

मैंने कहा, "मैं तो तुमसे होली मिलने आया हूँ भैया!" और आगे बढ़कर मैं दोनोंसे गले मिला। दोनोंके लिए यह नया अनुभव है, यह मुझे

इस अर्थका फलितार्थ यह हुआ कि जन-साधारणके जिस अहर्निश स्वेच्छाश्रमके द्वारा राष्ट्रोंका नव-निर्माण सम्भव है और उसकी नींव जिस मानसिक उमंगपर रखी जा सकती है, वह जनतामें वादोंसे उत्पन्न नहीं हो सकती, उसे कुछ प्रत्यक्ष चाहिए, भले ही यह 'कुछ' कमसे कम हो।

जो कुछ अभीतक हाथ आया, वह यह था हमारे राष्ट्रकी आम जनता आज जिस दिशामें है, उसमें वह अपने शासकों और साथकोंसे तुरन्त कुछ चाहती है और महान् राष्ट्रके निर्माणमें उससे हम जिस प्रतीक्षा और परिश्रमकी आशा करते हैं, वह इस चाहकी पूर्तिपर ही निर्भर है।

मैं सोच रहा था, वे साथ पी रहे थे। मुझे अपने बापूकी याद आ गयी। हमारे इतिहासमें इस देशको आत्माको ठीक-ठीक पहचाननेवाला कोई दूसरा महापुरुष पैदा नहीं हुआ, जो राष्ट्रके नव-निर्माणकी शृंखलामें इतनी गहराइयों तक उतरा हो।

इस देशमें सामाजिक क्रान्तिके नारे लगानेवाले गली-गली हैं, पर अस्पृश्यता-निवारणको सामाजिक क्रान्तिका प्रतीक मानकर बापूने जितनी दूर तक देखा, वह तो दूसरोंके लिए कल्पनातीत ही है।

आर्थिक सामाजिक क्रान्तिका अर्थ है बाहरी समानता और अस्पृश्यता-निवारणका अर्थ है भीतरी यानी मानसिक समानता। पहला कानूनकी शक्तिसे, हिंसाके बलसे सम्भव है, दूसरी मनके संस्कारोंके परिवर्तनसे, इसे यों भी कह सकते है कि पहली है सामाजिक क्रान्ति और दूसरी है मानसिक क्रान्ति – पहलीका चरम विकास दूसरीमें है, पत्ते और टहनियों-का नहीं, मूलका ही यह परिवर्तन है।

तभी आ गया ननमें-से एकका पुत्र। हागा कोई सात-आठ सालका। मैंने उसे भी चायके लिए एक दुअन्नी दी और तब उन दोनोंसे कहा, "भैया, तुम अपनी जिन्दगीमें जिस अपमान, गरीबी और नरकको भोगते रहे हो, इस बच्चेको वह सब नहीं भोगना पड़ेगा, क्योंकि जबतक यह जवान होगा, तबतक

दुनिया ही बदल जायगी और समाजमें सबका दर्जा बराबर हो जायेगा।

मैं बहुत गहराईमें दोनोंके चेहरे देख रहा था कि उनपर क्या-क्या झमक आती है। मुझे लगा कि गुस्सेकी एक लहर आकर उतर गया।

तभी छोटेने कहा, "अजी, कहीं बदले है दुनिया! हमारी किस्मतमें नरक ढोना लिखा है, तभी तो भंगीके घर पैदा हुए हैं। हमने ढोया, हमारे बच्चे भी ढोयेंगे, दुनिया कहीं नहीं बदलती।"

किस्मत हमारे राष्ट्रका वह मानसिक चक्रव्यूह है, जिसमें फँस-उलझकर परिवर्तनकी क्रान्तिकी भावना घुट-मरती है। यह ऐसा डी० डी० टी० है जो असन्तोषके कीटाणुओंको जन्म ही नहीं लेने देता।

मैं अब निराशामें झकझोर हो ही रहा था कि बड़ेने ठेठ सहारनपुरी उच्चारणमें कहा, "अरे मूरख, बदलगी क्या, दुनिया तो बदलगी। ऐसे विद्वान पण्डत तुम्हारेसे होली मिलण आवे होर (और) म्हारे पास बैठके बात्तों पूछ रे, या ममूली बात है क्या कुछ? जहाँ इतना हुआ वहाँ इन-जैसोंके पुन-परतापसे होर भी हो जागा। कधी-न-कधी तो सबके दिन बहावड़ें, म्हारे क्या हमेसा सोवो ही जाँगे।"

बात पूरी हो गयी थी, मैं उस बालकको पुचकारकर उठ खड़ा हुआ। चलते-चलते बड़ेने कहा, "राम-राम पण्डतजी, कधी-कधाक तम आ जाओ तो हमें सुरग-सा दिख जा।"

राम राम कर मैं चला, तो बालक अपनी दुअन्नीमें उलझा हुआ था। उसके लिए नये समाजकी रचनासे यह दुअन्नी अधिक कीमती थी। वही बात कि कलकी कल्पनासे अबोधके लिए आजका यथार्थ अधिक महत्त्वपूर्ण है।

चलते-चलते, सब मिलाकर मैंने सोचा, शासक-शक्ति देशके उज्ज्वल भविष्य-निर्माणमें लगी रहे और साधक-शक्तिका सेवा-समर्थन जनताको मिले, तो राष्ट्रके नव-निर्माणका कार्यक्रम सही रूपमें चल सकता है। मैं अपनी कुटियामें लौटकर आया तो थक गया था, पर रोम-रोममें होलीकी मस्ती थी — आजकी होली खूब रही।

महान् सांस्कृतिक महोत्सवमें

स्वागतके समय

यह एक महान् सांस्कृतिक महोत्सव था, जो भगवान महावीरके धर्म-प्रवर्तनकी ढाई हजारवीं वर्षगाँठके रूपमें, प्रसिद्ध नगरी कलकत्तामें मनाया गया।

क्या यह महापुरुष महावीरकी वन्दनाका महोत्सव था ? नहीं, यह भगवान् महावीरके 'शासन'का संस्मरणोत्सव था। यह व्यक्तिकी पूजा न थी, व्यक्तिके लोक-कल्याणकारी सन्देशका अभिनन्दन था और तभी मैं कहता हूँ, यह एक महान् सांस्कृतिक महोत्सव था।

एक बात और, यह उत्सव 'धार्मिकता'के धरातलसे ऊँचे, सांस्कृतिकताके आसनपर प्रतिष्ठित था। अभीतक हम विश्वकी विभूतियोंपर अपने समाजका 'हाल मार्क' लगाकर उन्हें संकीर्णताके नदमें डुबानेका प्रयत्न करते आये हैं। यही इस पापका प्रक्षालन था।

उत्सवकी स्वागत समितिमें अँगरेज, हिन्दू और जैन दिगम्बर-श्वेताम्बर, वगैर लोग थे। इन लोगोंके चुनावमें भी सरस्वतीके चरणोंमें महालक्ष्मी ही प्रणत मुद्रामें थी।

स्वागतका कार्य श्री साहू शान्तिप्रसाद, सेठ बलदेवदास सरावगी और बाबू छोटेलालजीके हाथोंमें था और प्रधान सभापति सर सेठ हुकुमचन्दजी थे, तो उद्घाटन श्री श्यामाप्रसाद मुकर्जीने किया था। परिषदोंके अध्यक्षोंमें सर्वश्री माखनलाल मुकर्जी, प्रो० हीरालाल जैन, प्रो० हरिमोहन भट्टाचार्य, डॉ० एन० रामचन्द्रन और डॉ० कालीदास नाग-जैसे अधिकारी विद्वान् थे,

लतमें व्यस्त हैं और दूसरा जजीमें। भगवान्‌की जैन-समाजपर बड़ी कृपा हो यदि कोई ऐसा केस हो जाये कि एकका डिप्लोमा जब्त हो जाये और दूसरा अपनी नौकरीसे अलग कर दिया जाये। सम्भव है दोनों बन्धु मुझ-पर नाराज़ हों, पर मैं तो इसे उनके प्रति शुभकामना ही मानता हूँ।

सर सेठ हुकुमचन्दजीके पधारनेपर जब श्री जैनेन्द्रकुमारजीने उनके सामनेकी चौकीपर बैठे-बैठे अपना भाषण आरम्भ किया, "मैं सोच रहा था कि हम बैठे हैं, पर हममें 'सर' नहीं है। अब हममें 'सर' है, जिसके बिना काम नहीं होता।" तो सर साहबने बड़े लाड़से उनकी कमरपर हाथ फेरा, पर बहुत-सी आँखोंने एक विशिष्ट भावसे एक-दूसरेकी तरफ देखा भी।

लम्बा कद, छरहरा बदन, गौर वर्ण, शान्त मुख-मुद्रा और दीप्त ललाट; गोष्ठीमें एक सज्जन पधारे और लोगोंके आग्रह करनेपर भी बादमें आनेके कारण, पीछे ही बैठे रहे, तो मुझपर उनकी सज्जनताकी छाप पड़ी पर विज्ञान-परिषद्‌में जब यही सज्जन 'काल' पर बोले, तो मेरी जिज्ञासा-पर उनके अध्ययनकी गम्भीरता छा गयी। ये भारत सरकारके रिटायर्ड एकाउण्टेण्ट जनरल (नोटोंपर दस्तखत करनेवाले पहले भारतीय) श्री जगतप्रसाद जैन सी० आई० ई० महोदय हैं। उन्हें देखकर मुझपर तो यही प्रभाव पड़ा कि उनका व्यक्तित्व जैन-समाजकी एक शक्ति है और उसका पूरा उपयोग किया जाना चाहिए।

गोष्ठीमें पण्डित मक्खनलालजीने ही पण्डितोंका प्रतिनिधित्व किया, पर उनके शास्त्रीय भाषणकी ध्वनि थी कि इस वर्गका समाजकी जीवित प्रवृत्तियोंसे साथ कोई सम्पर्क नहीं है।

पुष्ट अधिवेशनमें

इसी दिन रातमें श्री बेलगछियाके विशाल मन्दिरमें, वीर शासन जयन्तीका खुला अधिवेशन हुआ। डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जीने अपने अंगरेजी

सो संयोजकोंमें सर्वश्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, अशोककुमार भट्टाचार्य, अजित-रंजन भट्टाचार्य, शिवेन्द्रनाथ घोषाल और सतीशचन्द्र शीलकी योजना थी। सर्वश्री सुनीतिकुमार चटर्जी, बी० एम० बड़ुआ, प्रिंसिपल के० पी० मित्रा-जैसे लोगोंकी उपस्थिति और सहयोगने इस उत्सवको गम्भीरता दी थी और श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार इस विशाल अनुष्ठानके आचार्य पदपर अधिष्ठित थे।

जैन झण्डागीत और महावीर-सन्देशके गायकोंमें जहाँ सुशीला जैन थीं, वहाँ सर्वश्री इकबाल जहाँ, कुमारी रहीम, बीना वडेर और मीरा सील भी थीं। बहुत-से संकीर्ण उत्सवोंमें कुढ़नेके बाद मुझे तो इस उत्सवका वातावरण ऐसा लगा कि कारखानेसे निकलकर हम कहीं गंगातटपर आ बैठे हों।

प्रतिनिधियोंकी गोष्ठियोंमें

"खुले अधिवेशनमें खुले दिल बातें करना सम्भव नहीं होता, अतएव यहाँ हम एक सिंहावलोकन कर लें कि हमारे समाजमें कहाँ क्या हो रहा है और यहाँ हम विचार कर लें कि कहाँ क्या होना चाहिए, जिससे कि हमें नयी स्फूर्ति मिले और हम इस उत्सवके कार्यक्रमका उपयोग भी इस दिशामें कर सकें" इन शब्दोंमें श्री साहू शान्तिप्रसादने प्रतिनिधियोंकी गोष्ठीका आरम्भ किया। कई सज्जन बोले, पर भाषणके जोशने उन्हें कहींसे कहीं पहुँचा दिया। गोष्ठियोंके सम्बन्धमें मेरा अनुभव है कि उनमें चुने हुए आदमियोंको ही बुलाया जाये और भाषण-ब्रह्मचर्यका पूरा ध्यान रखा जाये।

सर्वश्री राजेन्द्रकुमार जैन, बा० लालचन्द एडवोकेट और बैरिस्टर जमनाप्रसादने कामकी बातें कहीं। लालचन्दजी जीते-जागते प्लेट-फार्म हैं और जमनाप्रसादजी—बाँधके निर्झर; दोनोंको देखकर हमेशा मेरे मनमें यही भाव आया है कि ये दोनों जैन समाजकी भुजाएँ हैं, पर एक अपनी वक्ता-

लतमें व्यस्त हैं और दूसरा अजोमें । भगवान्‌की जैन-समाजपर बड़ा कृपा हो यदि कोई ऐसा केस हो जाये कि एकका डिप्लोमा ज़ब्त हो जाये और दूसरा अपनी नौकरीसे अलग कर दिया जाये । सम्भव है दोनों बन्धु मुझ-पर नाराज़ हों, पर मैं तो इसे उनके प्रति शुभकामना ही मानता हूँ ।

सर सेठ हुकुमचन्दजीके पधारनेपर जब श्री जैनेन्द्रकुमारजीने उनके सामनेकी चौकीपर बैठे-बैठे अपना भाषण आरम्भ किया, "मैं सोच रहा था कि हम बैठे है, पर हममें 'सर' नहीं है । अब हममें 'सर' है, जिसके बिना काम नहीं होता ।" तो सर साहबने बड़े लाडसे उनकी कमरपर हाथ फेरा, पर बहुत-सी आँखोंने एक विशिष्ट भावसे एक-दूसरेकी तरफ़ देखा भी ।

लम्बा कद, छरहरा बदन, गौर वर्ण, शान्त मुख-मुद्रा और दीप्त ललाट; गोष्ठीमें एक सज्जन पधारे और लोगोंके आग्रह करनेपर भी बादमें आनेके कारण, पीछे ही बैठे रहे, तो मुझपर उनकी सज्जनताकी छाप पड़ी पर विज्ञान-परिषद्‌में जब यही सज्जन 'काल' पर बोले, तो मेरी जिज्ञासा-पर उनके अध्ययनकी गम्भीरता छा गयी । ये भारत सरकारके रिटायर्ड एकाउण्टेण्ट जनरल (नोटोंपर दस्तख़त करनेवाले पहले भारतीय) श्री जगतप्रसाद जैन सी० आई० ई० महोदय हैं । उन्हें देखकर मुझपर तो यही प्रभाव पड़ा कि उनका व्यक्तित्व जैन-समाजकी एक शक्ति है और उसका पूरा उपयोग किया जाना चाहिए ।

गोष्ठीमें पण्डित मक्खनलालजीने ही पण्डितोंका प्रतिनिधित्व किया, पर उनके शास्त्रीय भाषणकी ध्वनि थी कि इस वर्गका समाजकी जीवित प्रवृत्तियोंसे साथ कोई सम्पर्क नहीं है ।

खुले अधिवेशनमें

इसी दिन रातमें श्री बेलगछियाके विशाल मन्दिरमें, बीर शासन महोत्सवका खुला अधिवेशन हुआ । डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जीने अपने अंग्रेज़ी

उद्‌घाटन-भाषणमें भारतीय संस्कृतिके निर्माणमें जैन-संस्कृतिके
सुन्दर प्रकाश डाला । श्री साहू शान्तिप्रसादका स्वागत-भाषण, भाषा
भाव दोनों दृष्टियोंसे संयत था, दृष्टिकोणमें व्यापकता थी और जैन-
के उदाहरणसे पाकिस्तानपर उसमें जो चोट की गयी थी, वह ऊपरसे
होकर भी वेधक थी । रावराजा सर सेठ हुकुमचन्दजीने सभापतिका
ग्रहण किया । श्रीमती रमा रानीजीने जब सभापतिके मस्तकपर तिल
उन्हें नारियल भेंट किया, तो राजपूती इतिहास आँखोंमें सजीव हो
नारीके इस छोटे-से लाल तिलकने जाने कितने वीरोंको कर्तव्यकी
दी है और कितनोंको गिरते-गिरते सँभाला है ।

महाराष्ट्रीय ढंगकी किश्तीनुमा शाही लाल पगड़ी, गलेमें
पन्नोंका दोहरा कण्ठा, चमचमाती वायलका अँगरखा, विशाल आकार
गम्भीर हास्यपूर्ण मुखमुद्रा; सचमुच सर साहब जैन समाजकी
विभूति हैं । पुरानी भाषा-शैलीमें हम आसानीसे उन्हें 'नरसिंह'
सकते हैं ।

स्वागताध्यक्ष श्री साहूजीने उन्हें कुरसीपर बैठाया, भाषण
उनके हाथमें दिया, लाउडस्पीकर ठीक किया और खचाखच
पण्डालमें सर साहबकी गम्भीर वाणी गूँज उठी । भाषण विस्तृत था
सर साहब उसे शास्त्र-वाचनकी 'टोन' में पढ रहे थे । उम्र अस्सी
और चश्माविहीन आँखें ! साहूजीने कानमें कहा, "लाइए मैं प
आपका भाषण" तो मुसकराहटमें लिपटी दृढ़तामें उत्तर मिला, "नहीं
इस नहींमें सर साहबका विशाल सफलताके आधार और उनके आ
विश्वासकी सुन्दर झाँकी थी । थोड़ी देरमें वे और भी धीरे-धीरे
लगे, तो साहूजीने फिर कहा कि भाषण किसी औरसे पढ़ा दें, पर
बार और भी सख्त उत्तर मिला, "नहीं-नहीं" तीसरी बार उत्तर मि
"नहीं भाई !" पर लोग ऊब उठे थे, इसलिए सारी स्थिति आपको स
झायी गयी और आप मान गये । घोषणा हुई कि आप थक गये हैं,

लिए भाषण श्री राजकुमार सिंह पढ़ेंगे। मर साहबने तुरन्त प्रतिवाद किया, "मैं थका नहीं हूँ, पर ये कहते हैं कि लोग चले जायेंगे।" इस प्रतिवादकी ध्वनि थी कि यह आदमी कभी हार नहीं मान सकता और इस ध्वनिमें ही जैसे उनके सारे जीवन-क्रमका इतिहास आ गया था।

मर साहबके सुपुत्र रायबहादुर श्री राजकुमार सिंह—वही लाल पगड़ी, पर मर साहबसे छोटी, वैसा ही कण्ठा, पर इकहरा, स्वस्थ गठित शरीर, लम्बा कद और प्रभावशाली मुख-मुद्रा—एक सपाटेमें उन्होंने भाषण पढ़ा। बादमें भी उनसे बातें करनेका अवसर लिया। वे प्रभावशाली भी हैं और प्रतिभाशाली भी—उनके व्यक्तित्वकी दीप्ति उनकी सरलतामें है और सरसतामें भी! हमारा सामाजिक जीवन उनसे कुछ आशाएँ बाँधे तो अनुचित नहीं है।

एक काग़ज़ हाथमें लिये यह सज्जन लाउडस्पीकरपर आये। लम्बा क़द, भरा शरीर, हँसते होठ, खिले लोचन, गलेमें दोनों ओर नीचे तक लटकता साफ़ा, ऊँची दुपल्ली सिरपर और ढलकते शरीरको थामे, लपकती-सी चाल, आराके विख्यात रईस श्री निर्मलकुमार, जीवनके ऐसे अभिनेता, जो रंगभूमिमें आते ही, आँखों-आँखोंमें दर्शकोंको मोह लेते हैं। कई बार आपको देखा और कई बार बातें कीं। निर्मलकुमारजीमें नेतृत्वकी अद्भुत प्रतिभा है। वे गुत्थियोंको सुलझाना भी जानते हैं और दो विभिन्न तटोंपर खड़े आदमियोंको एक स्थानमें उलझाना भी! हमारा दुर्भाग्य है कि वे सार्वजनिक जीवनसे दूर हैं।

कलकत्तामें, एक विशाल जैन एकेडेमीकी स्थापनाका प्रस्ताव आपने किया। उसे समर्थन भी मिला और कई लाखके वचन भी। मेरे मनमें इस सम्बन्धमें एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कलकत्ता उत्सवकी योजना वीर सेवा-मन्दिर, सरसावाने की थी और वहाँ जो नयी एकेडेमी बनी, वह एक स्वतन्त्र संस्था प्रतीत हुई, तो दोनों संस्थाओंमें कोई समन्वय स्थापित किया जायेगा या वीर सेवा-मन्दिरको केवल धन्यवाद ही मिलेगा। कुछ भी हो,

आवश्यकता इस बातकी है कि पं० जुगलकिशोर मुख्तारको अब इतनी पूर्ण निश्चिन्तता मिले, जिससे अपने जीवनकी साँझको वे साहित्यको सुरक्षित थाती दे सकें।

डा० कालिदास नाग सुप्रसिद्ध भारतीय इतिहासके महापण्डित हैं। उनका अँगरेजी भाषण अधिकारपूर्ण भी था और प्रभावपूर्ण भी। काश, वे हिन्दीमें बोल पाते। आपके जलसेकी उपस्थिति श्रेणी और संख्या, दोनों दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण थी और वातावरण प्रभावनापूर्ण।

जैनधर्म-परिषद्में

दूसरे दिन प्रातः जैनधर्म-परिषद् हुई। संचालकजीने एक परिवर्तन आयोजन बदल दिया। बहुत मान करनेपर वे बैठे भी तो यह कहते हुए कि, "हाँ मुझे अपनी बात कहनेका समय अवश्य मिले।" अब क्या बताऊँ कि उस समय मनमें क्या भाव उठे।

सागरके श्री अजितप्रसाद जैन सभापति थे। वे मेंबर आये और अपनेको संभाल-संभालकर उन्होंने सभासे पूछा कि यह परिषद् कितनी देर चले? तै हुआ कि दो घण्टे। अब वे घण्टेको मिनिटोंमें जोड़ने लगे कि किसे कितना समय मिले? कहा गया कि सभापतिको इस सम्बन्धमें पूरा अधिकार है, तो बड़ी आदर्शवादितासे बोले, "मैं आपके दिये अधिकारोंका दुरुपयोग नहीं करना चाहता।" इसपर डा० हीरालालने ओरियण्टल कान्फ्रेंसमें पेपर पढ़नेके जो नियम होते हैं समझाये, पर आप सभासे ही पूछते रहे। जैनेन्द्रजीने कहा, "मैं तो एक मिनिट लेना भी समयका दुरुपयोग समझता हूँ।" पर आपके लिए यह व्यंग्य भी शक्तिहीन रहा। बड़ी मुश्किलसे तै हुआ कि आप जो चाहें करें। इसपर आपने एक नया प्रश्न खड़ा किया कि "मैं कितने मिनिट लूँ?" चारों तरफ़से आवाज़ आयी, "पन्द्रह मिनिट।" तब आप बोले, "नहीं, सिर्फ़ एक आदमी कहे।" जमनाप्रसादजीने खड़े होकर कहा, "पन्द्रह मिनिट!" तब आप मेंबरसे

अपनी गद्दीपर आये। मैंने घड़ीकी ओर देखा — इस व्यवस्थामें बड़ी सुई चौबीस मिनिटोंको पार कर गयी थी। यानी पूरे समयका लगभग चौथाई अंश!

पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्रीने अपना निबन्ध पढ़ना प्रारम्भ किया। यह 'सचेल मुक्ति' के विरोधमें शास्त्रीय अध्ययन था, पर श्वेताम्बरोंके विश्वासमें यह विरुद्ध था। इसपर साहू शान्तिप्रसादजीने एक बहुत दूरका निशाना लिया : "यह लेख बहुत गम्भीर है। यह जब विवरणमें छपेगा, तो आप पढ़िएगा।" पर इतनी दूर कौन देखता ? एक श्वेताम्बर तरुणने उठकर उसका विरोध किया, तो दिगम्बरोंमें उसके पढ़नेका आग्रह और भी बढ़ गया, पर साहूजीकी हार्दिक क्षमा-प्रार्थनाने यहीं कटुताकी जड़ काट दी। मैं अपने मनमें सोच रहा था कि पाँवोंसे सिर तक वस्त्रोंसे लदे दो मानव सचेल और अचेल मुक्तिके प्रश्नपर चिन्तित हैं, यह जीवनका कितना अद्भुत चित्र है।

पण्डिता चन्दाबाईजीका भाषण उनके आस्तिक हृदयकी अभिव्यक्ति थी। जब सभापतिजीने उन्हें समयकी कमी बतायी तो बोलीं, "हाँ, धर्मके लिए तो समय कम रहता ही है।" बड़ा चुभता हुआ व्यंग्य था। इसे हम आसानीसे गान्धीजीके पैने व्यंग्योंके साथ रख सकते हैं।

खादीकी वेष-भूषा, आकृतिमें सरल-साधुकी छाया और मस्तिष्ककी उभरी रेखाओंमें चिन्तनका भार लिये जैनेन्द्रजी मेजपर आये, "मैंने बचपनमें बहुत धर्म सीखा था। मुझे खुशी है कि वह मैं भूल गया और अब उस सम्बन्धमें जिज्ञासु हूँ।" बड़ा प्यारा झिलमिल आरम्भ था और अन्त था — "धर्मको जाननेका दावा ऐसा ही है, जैसे हवाको मुट्ठीमें बाँधना।" वे अपनी भाषा और शैली दोनोंमें अस्पष्ट हैं, पर यह अस्पष्टता ही बहुत दूर तक जनताके लिए उनके भाषणोंकी शक्ति है।

सभापतिजीका भाषण जैन धर्मका एक अक्षर भी न जाननेवालोंके लिए प्राइमरी किताब थी और वहाँ सब जानकर ही बैठे थे, फलतः लोग

पर बोले कि एक बौछार आयी—"हिन्दी-हिन्दी" और वे हिन्दीमें बोले। मायण, मादकताकी उत्तेजनाओंसे दूर, पर कामकी बातोंसे भरा पूरा। प्रा० हीरालाल, अध्येता भी हैं और समीक्षक भी। वे निष्कर्षोंको सीधकर अध्ययन नहीं करते, अध्ययनके आधारपर निष्कर्षोंको स्थापना करते हैं। समीक्षामें वे विद्वानोंके विविस्मक न होकर तथ्योंके निषण्णुकार हैं। उनकी खोजमें भारतीय श्रद्धा है और पश्चिमी विवेचना भी।

बस, यहीं दर्शन-परिषद् समाप्त, दर्शनोंकी तरह गम्भीर और दार्शनिकोंकी तरह शान्त।

डॉ० नाग बोले

दर्शन-परिषद् समाप्त हुई। डॉ० कालीदास नाग आये। मैजिक लालटेनसे उन्हें जैन स्थापत्यपर भाषण देना है। डॉ० नाग शरीर, स्वभाव और स्वाध्याय, तीनोंमें पूर्ण विकसित हैं। मुझे उनकी यह बात बहुत पसन्द आयी कि उनकी विद्वत्ता ही गम्भीर है, मुख नहीं—वे बराबर हँसते रहते हैं। इस हँसीका आधार, उनकी अपने विषयके साथ तल्लीनता है। वे जब अजन्ताका जिक्र करते हैं, तो स्वयं भी अजन्तामें होते हैं—फलस्वरूप अजन्ताके दर्शन-सुखसे उत्फुल्ल। वृद्ध होकर भी उनके रोम-रोममें स्फुरणाकी लहरें हैं और नयी खोजकी प्यास।

आज वे बँगलामें बोले और श्री लक्ष्मीचन्द्रजीने उसका अनुवाद किया। वक्ता और अनुवादक, दोनोंकी अच्छी जोड़ी थी। डॉ० नागका भाषण, हमारी महान् मातृभूमिकी एक झाँकी थी और हमारी कायरताको एक चैलेंज भी कि इतनी महान् सम्पत्ति विदेशोंमें जा रही है।

आयुर्वेद-सम्मेलन

वैद्यराज श्री कन्हैयालाल जैन कानपुरके सभापतित्वमें आयुर्वेद-सम्मेलन हुआ। डॉ० नागके भाषणके बाद यह उबा देनेवाली योजना थी। फिर इसमें कोई मौलिकता न थी, क्योंकि 'जैन आयुर्वेद' कोई मौलिक सिद्धान्त

नहीं है। सभापतिका रोगी और स्वस्थ, दोनोंके लिए नींद लानेवाला भाषण ही इस सम्मेलनका आदि और अन्त था !

विज्ञान-परिषद्में

तीसरे दिन प्रात: विज्ञान-परिषद् हुई। सभापति थे कलकत्ता विश्वविद्यालयके प्रो० श्री हरिमोहन भट्टाचार्य। वेष-विन्यास, वार्तालाप और व्यवस्था, सभीमें भव्य। शुरूमें आपने प्रोग्राम आरम्भ किया कि सब वक्ता पन्द्रह-पन्द्रह मिनिटमें अपना वक्तव्य समाप्त कर दें।

'भारतीय ज्योतिषमें जैन विद्वानोंका दान' पर जैन सिद्धान्त भवन आराके पुस्तकालयाध्यक्ष श्री नेमिचन्द बोले, "लिखित निबन्ध हाथमें लिये, पर मौखिक। उनके श्रमशोधका यह परिचय था।"

वीर-शासनकी तिथिपर श्री पी० सी० सेनगुप्ताका निबन्ध खोजपूर्ण था। कालपर श्री जगतप्रसादजी बहुत ऊँची सतहपर बोले। श्री पी० पी० चटर्जी एडवोकेटने कहा, "हम इस तरह अपने विषयोंको वैज्ञानिक रूपमें लायें, तो संसार चमत्कृत हो जायेगा।" प्रो० हीरालालने जैन ग्रन्थ "भैरव पद्मावती' के आधारपर श्री मोहनलाल भगवानदास जवेरी लिखित—'कम्पेरेटिव स्टडी ऑव मन्त्रशास्त्र' नामक अँगरेज़ी ग्रन्थका परिचय दिया। इस परिचयको संक्षिप्त-सम्पूर्णतापर प्रिंसिपल के० पी० मित्राने प्रसन्नता प्रकट की।

यहीं श्री गुलाबचन्द हीराचन्दने एक प्रस्ताव किया कि 'अखण्ड वीर-शासन संघ' की स्थापना कर, उसके लिए पाँच लाख रुपया संग्रह किया जावे और श्री जैनेन्द्रकुमार उसके मैनेजिङ् ट्रस्टी हों। यह प्रस्ताव जैनेन्द्रजीका ही था और केवल प्रभावक करनेके लिए ही प्रस्तावकको दे दिया गया था। विज्ञान-परिषद्से इसका कोई सम्बन्ध न था—असलमें यह विज्ञानपर राजनीतिका आक्रमण ही था !

जैनेन्द्रजीने इसका समर्थन किया, "आज तक जीवनमें मैंने पहले ही

कम मूर्खताएँ नहीं कीं, पर इस प्रस्तावको लाकर तो और भी बड़ी मूर्खता कर रहा हूँ। मैं इसका ट्रस्टी इसलिए बना कि और कुछ उपाय ही नहीं है।" यह बतानेके बाद कि मैं अकिंचन हूँ और शान्तिजीके किरायेसे यहाँ-तक आया हूँ, बड़े दर्द-भरे स्वरमें उन्होंने कहा, "मेरी इच्छा थी कि मैं विपुलाचलपर जाऊँ, पर क्या पैदल जाऊँ? मेरे पास किराया नहीं है।" आपके भाषणका अन्त था – "मुझे भगवान्की ओरसे मालूम हुआ है और धर्मकी ओरसे मालूम हुआ है कि मेरी यह मूर्खता बुरी नहीं है।" भाषणमें चारों ओर कुहरे-सी छायी वक्ताकी 'मैं' बहुत ऊँची सतहमें बोली। काश, यह भाषण तीन हजार वर्ष पहले हुआ होता, तो निश्चय ही दुनिया उन्हें एक 'इलहामी सन्त' बना डालती!

'दिगम्बर जैन संघ' के मन्त्री पण्डित राजेन्द्रकुमारजीने इस आयोजनकी बहुत प्रशंसा करनेके बाद सुझाव रखा कि इस महत्त्वपूर्ण प्रस्तावपर खुले अधिवेशनमें विचार हो, जिसमें सब संस्थाओंके प्रतिनिधि, इसमें भाग ले सकें। यह एक 'बाउण्डरी हिट' था। तभी सभापतिका भी स्लिप् आ पड़ा – "ऐसे प्रस्ताव खुले अधिवेशनमें लाइए। यहाँ विज्ञानकी बात कीजिए।" प्रस्ताव स्थगित हो गया और ऐसा स्थगित कि फिर खुले अधिवेशनमें भी न उठा।

गठित शरीर और अपने ही प्रयत्नों-द्वारा गठित व्यक्तित्व, पण्डित राजेन्द्रकुमार सामाजिक जीवनके हर मोर्चेके लिए फिट भी और प्रस्तुत भी। अपने बिरसगी नजलेके कारण बार-बार खखारते हुए 'बन्ध'पर वे बोले। सरल, संक्षिप्त, सरस और सारपूर्ण – विद्वानोंके लिए भी और जनताके लिए भी।

सभापतिका भाषण जैन साहित्यके विज्ञान विभागकी महत्त्वपूर्ण 'समरी' थी। लिखित भाषण होनेपर भी वे मौखिक बोले और खूब बोले। सामनेकी ओर खुली आँखें और तल्लीन मुद्रा, जैसे सारा जैन साहित्य

उनके सामने बिखरा हो और अपने अध्ययनके अम्बारमें-से वे अभी चुन-चुनकर ये विचार ला रहे हों !

जैनकला-परिषद्में

गलेमें साफा, सिरपर मद्रासी पगडी, लम्बे, छरहरे, मद्रासके श्री रामचन्द्रनका सभापतित्व ही इस परिषद्की विशेषता थी। उनके एक सौ चार पृष्ठके भाषणका सार ही हमने सुना। यह भाषण जैनकलापर एक अधिकारपूर्ण 'डाकूमेण्ट' है और इसे पूरा पढकर कोई भी भारतीय अपने अतीतपर गर्वित हुए बिना न रहेगा। आह, जैन समाज कितनी महान् सम्पदाका अधीश्वर है !

सर्वश्री सुपार्श्वन, के० पी० मित्रा और हीरालाल बोले, जैन पेंटिंग्स पर, कथा साहित्यके उद्गमपर और कुछ मूर्तियोंके जैनत्वपर; तीनों भाषण, संक्षिप्त और उपयोगी।

इतिहास-परिषद्में

श्री नेमिचन्द्र जैन एम० एस-सी० की कवितासे इतिहास-परिषद् आरम्भ हुई। बिना सँवरे, बिना सँभले, शिशु-से सरल और उसी तरह मुसकराते सभापति श्री हीरालालने अपना अध्ययनपूर्ण भाषण पढ़ा।

श्री मित्राका निबन्ध अंगरेजीमें था और पं० नाथूराम प्रेमीका 'यापनीय सम्प्रदाय' पर भाषण हिन्दीमें। प्रेमीजी-जैसे रहन सहनमें हरे हैं वैसे ही भाषणमें और जैसे व्यापारमें कादयी हैं, वैसे ही तथ्योंके संकलनमें। प्रो० सोमके अध्ययन भी है और श्रम भी। कवि पुष्पेन्दुकी 'अतीत स्मृति' पर परिषद् समाप्त हुई।

साहित्य-परिषद्में

"इस श्वेताम्बर मन्दिरमें दिगम्बर और श्वेताम्बर इकट्ठे और एक महोत्सव मना रहे हैं, यह प्रसन्नताकी बात है। बाकी सब मिले, हम

महत्त्वपूर्ण नहीं, महत्त्वपूर्ण तो वह वाणी ही है। पूज्य पण्डितोंसे प्रार्थना है कि वे विचारोंपर, शास्त्रके मामले सम्मति तो दें पर अनुचित बल नहीं। विभिन्न धर्मशास्त्रोंके साथ हमें सहयोग करना है, तो जिन श्वेताम्बर-दिगम्बरोंके एक ही भगवान् है, उनमें यदि मतभेद हो भी तो वह शास्त्रीय ही है, जीवनमें उससे विभेद नहीं आना चाहिए। विचारोंकी विभिन्नतामें जीवनकी एकता ही तो हमारी संस्कृतिकी विशेषता है।" इन शब्दोंके साथ साहू शान्तिप्रसादजीने साहित्य-परिषद्का कार्य आरम्भ किया। आजकी परिषद् एक श्वेताम्बर मन्दिरमें बुलायी गयी थी और सभापति डॉ० शाह थे। मैंने लखनऊ-परिषद्में भी अनुभव किया था कि साहूजीके मनमें एक विशाल जैन समाजका सामूहिक स्वप्न है और यहाँ भी विशालताके साधक विभेदोंको जोड़नेमें वे एक कड़ीकी तरह हैं।

श्वेताम्बर बन्धु श्री अमृतलालने कहा कि पचीस वर्षोंमें मैंने आज पहली बार श्वेताम्बर-दिगम्बर बन्धुओंको मिले देखा है और इसका अर्थ है कि हम भगवान्‌की वाणीको, जिसका आधार विश्व-बन्धुत्व है, प्रचारको पात्रता ले रहे हैं। सर सेठ हुकुमचन्दजीने भी एकताकी अपील की। इसी भावकी एक कविता पढ़ी गयी और भगवान् महावीरकी जयसे हॉल गूँज उठा। इतनी सम्पूर्ण जय-ध्वनि मैंने इस उत्सवमें पहली बार सुनी।

"अब पण्डित जैनेन्द्रकुमारका भाषण होगा" सभापतिने कहा और जैनेन्द्रजी आये – "मुझे प० जैनेन्द्रकुमार कहा गया, इसमें बहुत कुछ धर्मके अनुसार छोड़ने लायक है। पण्डित मैं नहीं, कुमारकी सीमा पार कर गया, इन्द्रत्व मुझमें है नहीं, जैन ही मैं हूँ।" इसके बाद उन्हें जो कहना था; वे उसमें लीन हो गये। यहाँतक कि सभापतिका परचा भी असफल रहा और जोरसे कुरता खींचनेपर ही उनकी लीनता टूटी। भाषण बड़ा सुन्दर था। उसमें सच्चे धर्मकी एकताका आधार बताया गया था।

"भले आदमियो, कोई कामकी बात करो!" यह जमनाप्रसादजीका पण्डिताऊ बहसके विरुद्ध जिहाद था। आपका प्रस्ताव था कि एक कमेटी

बने, जो परस्पर सम्पर्कके लिए प्रयत्नशील हो। भाई
इस खाईको सत्याग्रह-द्वारा पाटनेके लिए बीस तरुणोंका
इस आह्वानमें हृदयकी पीडा न थी—पीडाका करुण अभि
प्रो॰ बडुवाने युद्धसे पहले भारतकी दशापर एक भा
तब सभापतिजी बोले। दोनों भाषण सुन्दर थे। इस प्रकार
का अधिकतर समय जीवन-साहित्यपर विचार करनेमें ही

फिर खुला अधिवेशन

रातमें खुला अधिवेशन हुआ। आज पण्डालपर
था—खूब शास्त्रचर्चा हुई और महोत्सव समाप्त हो गया।
भी समाप्त हो गये, पर मेरी आंखोंमें अब भी यह विसर्
यह न भाषण देता है, न रिपोर्ट पढता है, न झपटकर
ही किसी ध्यानमें डूबा इधर-उधर होता रहता है। बहुत-से
इसके कानमें कुछ कहते हैं और यह उनके कानमें कुछ कह
प्रमुख लोग आते हैं, इसे नमस्कार करते हैं और मुसकर
उपयुक्त स्थानपर बैठा देता है। ये स्वागतमन्त्री और
संयोजक श्री बाबू छोटेलाल जैन हैं, जो इस उत्सवकी सारी
हैं, इसने विशेषताको यहां खींच लानेवाली डोर हैं और जि
एकेडेमीको पचास हजार रुपयोंके साथ अपना जीवन भी
उनकी कार्यदक्षता और जीवनवृत्तिको देखकर मैंने सोचा,
किसी निर्माणके प्राणपुरुष हो सकते हैं। उन्हें प्रणाम!

कुम्भ महान् : १९५०

१३ अप्रैल १९५० महाकुम्भका मुख्य स्नान दिवस ! ज्योतिषियोंके अनुसार दिनमें तीन बजेसे रातके दस बजे तक ही पुण्य-पर्व लगभग सात घण्टे और इन सात घण्टोंके लिए देशके कोने-कोनेसे आ उमड़े दस लाखसे अधिक नर-नारी, क्या किसी राष्ट्रके जीवनकी साधारण घटना है ?

पिछले किसी कुम्भमें एक अमेरिकन पत्रकारने स्वर्गीय महामना मालवीयजीसे पूछा, "इतने आदमियोंको बुलानेके लिए आपने प्रचारमें कितने रुपये खर्च किये हैं ?"

अपने सजीव स्वभावके अनुसार महामनाने कहा, "रुपयेके नामपर एक पाई नहीं और प्रचारके नामपर सिर्फ छपी हुई एक लाइन !"

रह गया बेचारा पत्रकार, तो महामनाने पास पड़ा पंचांग उठाकर दिखाया कि उसमें बैसाख मासके एक पृष्ठपर एक तिथिके सामने विवरण-में लिखा है कुम्भ पर्व ! महामनाने कहा, "बस, जनताने ये चार अक्षर पढ़े और वह आ जुटी । इसके अतिरिक्त कोई निमन्त्रण, कोई पोस्टर, इस कामके लिए नहीं छपा !"

अमेरिकन पत्रकारने महामनाको बताया कि हमारे देशमें ऐसा मेला करना हो, तो बीस हजार पौण्ड तो कमसे कम चाहिए और एक सालका समय, जिसमें लाखों पोस्टरों, नोटिसों, पुस्तिकाओं और इश्तहारोंसे हम देशका कोना-कोना छा सकें !"

कुम्भ : भारतीय राष्ट्रकी मानसिक सामूहिकताका एक प्रतीक, यह सामूहिकता कितनी गहरी, कितनी महान् और कितनी आन्तरिक कि

शताब्दियोंके परिस्थिति-चक्रोंमें पड़कर भी अजेय और आज भी विश्वमें अनुपमेय!

भारतीय राष्ट्रकी सामूहिकता! जिस राष्ट्रके उच्च शिक्षितोंमें भी *केला खाकर छिलका सड़कपर फेंक देना साधारण बात है,* उसमें सामूहिकता कहाँ? कितने हैं, जो सार्वजनिक वस्तुओंके प्रति आत्मीयता रखते हैं, फिर जब आत्मीयता ही नहीं, तो सामूहिकता कैसी?

प्रश्न चुटीला होकर भी अपनेमें सत्यको समाये है, पर सम्पूर्ण सत्य नहीं है। गंगा क्या है? हमारे देशकी एक नदी। गाय क्या है? हमारे देशका एक पशु। पीपल क्या है? हमारे देशका एक वृक्ष। वेद क्या है? हमारे देशकी एक पुस्तक। हिमालय क्या है? हमारे देशका एक पहाड़। समुद्र क्या है? हमारे देशका एक जलाशय। यह बुद्धिकी बात है, पर हमारे हृदयमें इन सबके प्रति एक वन्दनीयता व्याप्त है। यह वन्दनीयता क्या है? नागरिककी राष्ट्रकी सम्पूर्णताके प्रति आत्मीयता — राष्ट्र हमारा है, उसकी हर चीज हमारी है, हमें प्रिय है। इस आत्मीयताकी कोखसे ही उस बलिदानकी उत्पत्ति है, जो राष्ट्रकी रक्षाके लिए हमारे देशमें सदा सुलभ रहा है। और विश्वके बलिपन्थी इतिहासमें जिसकी कोई उपमा नहीं!

यह आत्मीयता, यह सामूहिकता, यह वन्दनीयता, ज्ञानकी गोदमें जन्मी थी, हमारा साहित्य साक्षी है।

यह आत्मीयता, यह सामूहिकता, यह वन्दनीयता, 'आज अज्ञानकी छायामें खेल रही है, इस कुम्भमें हमने देखा।

यह आत्मीयता, यह सामूहिकता, यह वन्दनीयता, नए नहीं, सहेजकर, सँवारकर फिरसे यथास्थान प्रतिष्ठित करना है, यह हमने कुम्भमें सोचा!

पर्वतमाला — दूर-दूर खड़े पर्वतोंके मध्यमें बहती गंगाकी धाराएँ और उनके दाहिने तटकी पतली-लम्बी पटरीपर बसा हरद्वार! हरद्वारसे कनखल तक कोई चार मीलका लम्बा तट। निर्मल जल, गहरा तल, सम-

तल तट, तेज प्रवाह और बर्फीली शीतलता; गंगोत्रीसे गंगा सागर तक; ऐसी गंगा कहीं नहीं !

कथा है कि भगीरथके तपसे गंगा स्वर्गसे उतरी और शिवकी जटामें समा गयी। वहाँसे भगीरथ आगे-आगे मार्ग दिखाते चले और पीछे पीछे शिव गंगाको छोड़ते हुए। हरद्वारमें आकर उन्होंने जटा झाड़ दी और गंगासे कहा, "जा, अब तेरा जिधर जी चाहे चली जा।" पुराणकथाके अनुसार जिस स्थानपर यह घटना घटी, उसीका नाम है ब्रह्मकुण्ड।

हमारी इन कथाओंमें इतिहास और दर्शनका कवित्व सुरक्षित है। अब समय आया है कि इस कवित्वके इतिहास और दर्शनकी खोज हो !

आज तो कनखल हरद्वारका एक अंग है, पर दो ढाई हजार वर्ष पहले हरद्वार ही कनखलका अंग था। महाकवि कालिदासने अपने 'मेघदूत' में मेघको मार्ग बताते हुए कहा है,

"तस्माद् गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् ॥"

हे मेघ, तुम वहाँसे 'कनखलके पास' हिमालयसे उतरी गंगाके तट जाना, जिसने सगरकी सन्तानको स्वर्गमें भेजनेका कार्य किया था !

स्पष्ट है कि कालिदासके समय हरद्वार नहीं, कनखल ही देशमें प्रसिद्ध था। 'अनुकनखलम्' में यह इशारा है कि ब्रह्मकुण्डका धार्मिक महत्त्व उन दिनों भी था ही ! कनखलका राष्ट्रीय महत्त्व तो स्पष्ट ही है। भारतके सबसे पहले राजा है दक्ष प्रजापति और कनखल थी उनकी राजधानी ! इस तरह कनखल — आजका एक मामूली कस्बा कनखल—हमारे देशकी और शायद संसारकी सबसे पहली राजधानी है और मेरा विश्वास है कि कनखल आज कितना भी उदास क्यों न हो, कलका भारत एक दिन समारोहके साथ उसे अभिनन्दन देगा।

हरद्वारका मुख्य महत्त्व यह है कि यहाँ पहली बार गंगा समतल भूमिपर आती है — ब्रह्मकुण्ड गंगाको समतलका पहला पत्थर, यह मस्तिष्कका

हो गमनेके प्लेटफार्मपर जम गये। तीन बजे तक यहाँ आनेमें कोई पाबन्दी नहीं, पर तीन बजे होने लगा प्लेटफार्म साफ़, तो जेबमें निराश-कर कम्बल बगल लिये और जो देखा कि पुलिसवाला आ रहा है, तो आँखें कर लीं बन्द, झुका दी गर्दन और हम धुनकमें ही मिला दी अपनी गुनगुनाहट! इस पूजाका पूर्ण फल सम्पन्न और पुलिस बेकार। सिपाही निकल गया कि यहाँ बन्द, आँखें मूँदी और होठोंपर मुस्कराहट। असत्य-के वाहनपर चढ़ा भक्त सत्यके मन्दिरमें उपस्थित!

एक और दृश्य खिलखिला-चहँकता एक पागल कहींसे प्लेटफार्मपर आ गया। स्वयंसेवकोंने रोका, न रुका, पुलिसवालोंने टोका, न मुड़ा। नंगे पैर, नंगे सिर, अँगोछा एक हाथोंपर और गंगाकी ओर गति। सब घबराये कि डूब न जाये, पर वह निश्चिन्त जीवनमें भी और मृत्युमें भी। जब उसे कोई हटाये तो वह तालियाँ बजाये और लो, वह कूद पड़ा ब्रह्मकुण्डमें और बढ़ चला हरकी पैड़ीकी ओर। रक्षकदलके स्वयंसेवक बचानेको साथ कूदे। उसे उन्होंने जा पकड़ा कि वह खड़ा हो गया और गम्भीर मुद्रामें बोला, "अबे पागल हो, हम तो नहा रहे हैं। ।" जरा गरम होकर बोला, "यारो, बारह सालमें आता है कुम्भ! नहाने दो, नहाने दो लोगोंको, क्यों रोकते हो?" और तब वह इतने जोरसे हँसा कि रक्षक झेंप-से गये!

यह भक्त भी असत्यके वाहनपर चढ़ा, सत्यके मन्दिरमें उपस्थित था! ये पाप कर रहे थे या पुण्य? हमारे विद्वान् इसपर एक अच्छा शास्त्रार्थ कर सकते हैं, पर जीवन-शास्त्रके एक नम्र विद्यार्थीके लिए तो एक ही प्रश्न है कि भावनाकी वह कौन-सी धारा है, जो हजारों-लाखों आदमियों-को ब्रह्मकुण्डकी ओर बहाये लिये जा रही थी!

वह भावना है श्रद्धाकी। श्रद्धाका पिता है विश्वास, विश्वासका प्राण है ज्ञान और ज्ञानकी आत्मा है सत्य, पर इन दृश्योंमें न सत्य है, न ज्ञान है, न विश्वास है, एक वहम है, एक संस्कार है, फिर यह श्रद्धा

ज्ञान और ब्रह्मकुण्डका स्नान स्वर्ग और मुक्तिका एक सरल साधन, यह कोटि-कोटि जनताकी भावनाका सिंहद्वार। इस ज्ञान और इस भावनाका संगम नहीं, समन्वय भारतका एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक सूत्र है।

हरद्वारमें लोग स्नान करने भी आते हैं और सैर करने भी। स्नान करनेवाले सैर न करते हों और सैर करनेवाले स्नान सो बात नहीं, पर दोनोंकी मानसिक दिशाएँ अलग-अलग हैं। स्नान करनेवालोंका दिशाबिन्दु है – ब्रह्मकुण्ड! वे हरद्वार कनखलके सौ घाटोंपर गंगा-स्नान कर लें, पर ब्रह्मकुण्डमें स्नान न करें, तो उनकी यात्रा उनके लिए व्यर्थ रही।

कुम्भपर्वका एक दिन, ब्रह्मकुण्डका छोटा-सा स्थान, दस लाखसे ऊपर की भीड और भीड़ माने अप्रशिक्षित नर-नारी। फिर उस दिनमें भी कई घण्टे साधुओंके ही स्नानके लिए सुरक्षित और ब्रह्मकुण्ड तक आने-जानेके मार्ग सँकरे-बेढंगे; एक असम्भव घटना है कि दुर्घटना न हो—हर कुम्भ लाशोंकी एक प्रदर्शनी देखकर ही समाप्त होता है।

एक चित्र, जिसमें स्थितिके अनुमानकी सम्भावना है। ब्रह्मकुण्ड-बिडला टावरसे रोडियोंके तट तक, गंगाके लगभग एक फर्लांग, पाट। पाटता किश्तियोंका एक पुल और उसे साधता एक लोहेका रस्सा। साधुओंके स्नानका समय होनेके कारण ब्रह्मकुण्ड तक जानेके सब मार्ग बन्द। अब कुछ मनुष्य रोडियोंके तटसे, चमगादडोंकी तरह उलटे उस रस्सेपर लटके कि झूले-झूले वे गंगाका पूरा पाट पार कर ब्रह्मकुण्ड पर उतरें और एक गोता मार लें। यह मृत्युका मार्ग था – स्वर्गका पुराणवर्णित पथ भी इससे कठिन तो क्या होगा? एक डुबकीके लिए, जीवन ही डुबका देनेका यह खतरा!

कुम्भके पर्वका समय और ब्रह्मकुण्डमें स्नान; बात क्या बात है, पर यह कैसे हो? तीन आनेकी एक छोटी-सी टुन-टुन घण्टी और चार आनेके पीतलके कृष्ण भाई भवानी गिरिकी दूकानसे खरीदे और प्रातःकाल

ही सामनेके प्लेटफॉर्मपर जम गये। तीन बजे तक यहाँ आनेमें कोई पाबन्दी नहीं; पर तीन बजे होने लगा प्लेटफॉर्म साफ़, तो जेबसे निकाल-कर कृष्ण रख लिये और जो देखा कि पुलिसवाला आ रहा है, तो आँखें कर लीं बन्द, टुनका दी घण्टी और हम टुनकमें ही मिला दी अपनी गुनगुनाहट! बस पूजाका पूर्ण दृश्य सम्पन्न और पुलिस बेकार। सिपाही निकल गया कि घण्टी बन्द, आँखें खुलीं और होठोंपर मुसकराहट। असत्य-के वाहनपर चढ़ा भक्त सत्यके मन्दिरमें उपस्थित!

एक और दृश्य : धिक्लता-धकेलता एक पागल कहींसे प्लेटफॉर्मपर आ गया। स्वयंसेवकोंने रोका, न रुका, पुलिसवालोंने टोका, न मुड़ा। नंगे पैर, नंगे सिर, अँगोछा एक शरीरपर और गंगाकी ओर गति। सब घबराये कि डूब न जाये, पर वह निर्लिप्त जीवनसे भी और मृत्युसे भी। जब उसे कोई हटाये, तो वह तालियाँ बजाये और लो, वह कूद पड़ा ब्रह्मकुण्डमें और वह चला हरकी पैड़ीकी ओर। रक्षकदलके स्वयंसेवक बचानेको साथ कूदे। उसे उन्होंने जा पकड़ा कि वह खड़ा हो गया और गम्भीर मुद्रामें बोला, "अबे पागल हो, हम तो नहा रहे हैं।।" जरा सरस होकर बोला, "यारो, बारह सालमें आता है कुम्भ! नहाने दो, नहाने दो लोगोंको, क्यों रोकते हो?" और तब वह इतने जोरसे हँसा कि रक्षक झेंप-से गये!

यह भक्त भी असत्यके वाहनपर चढ़ा, सत्यके मन्दिरमें उपस्थित था! ये पाप कर रहे थे या पुण्य? हमारे विद्वान् इसपर एक अच्छा शास्त्रार्थ कर सकते हैं, पर जीवन-शास्त्रके एक नम्र विद्यार्थीके लिए तो एक ही प्रश्न है कि भावनाकी वह कौन-सी धारा है, जो हजारों-लाखों आदमियों-को ब्रह्मकुण्डकी ओर बहाये लिये जा रही थी!

वह भावना है श्रद्धाकी। श्रद्धाका पिता है विश्वास, विश्वासका प्राण है ज्ञान और ज्ञानकी आत्मा है सत्य, पर इन दृश्योंमें न सत्य है, न ज्ञान है, न विश्वास है, एक वहम है, एक संस्कार है, फिर यह श्रद्धा

कहीं है ? ठीक है, पर विश्वास सत्यज्ञानपर आश्रित हो या वहम-संस्कार-पर, यह श्रद्धाका पिता है। इस श्रद्धाका ही एक रूप है अन्ध-श्रद्धा और यह कुम्भ इस अन्ध-श्रद्धाका इस युगमें सर्वोत्तम प्रदर्शन है।

श्रद्धा सेवनीय है, अन्ध श्रद्धा वर्जनीय। नवयुग श्रद्धाको अन्धता दूर करनेका अंजन निर्माण कर रहा है, पर क्या कोटि-कोटि नर-नारियोंके मानसपर छायी यह अन्ध-श्रद्धा इतने ही विचारकी पात्र है ? गहरे-गहरे और गहरेसे गहरे उतरकर मैंने अपनेसे कहा कि हमारे विश्वविद्यालयका कोई प्राध्यापक एक महानिबन्ध (थीसिस) लिखकर आचार्यता (डॉक्टरेट) ले ले, कमसे कम हमारे राष्ट्रकी अन्ध-श्रद्धाके कोषमें तो इतनी विचार-सामग्री है। चीज यह इतनी ठोस न होती, तो बुद्ध, महावीर और गान्धीके तीव्र प्रकाशमें भी कैसे ठहरती ?

इस राष्ट्रमें अन्ध-श्रद्धाके प्रवर्तक हैं राष्ट्र-पुरुष श्री कृष्ण — गीताके गायक, महान् राजनीतिज्ञ, योगेश्वर कृष्ण !

रामके द्वारा सुव्यवस्थित समाज-मर्यादा युग-युगोंके घात-प्रतिघातसे बिखर चली थी। महाभारतका युद्ध इसी बिखराहटका प्रदर्शन था — प्रदर्शन भी और उसे रोकनेका प्रयोग भी। इसीके बीचमें एक दिन श्री कृष्णने अर्जुनसे कहा था, "लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि !" समाजकी मान-मर्यादाके, रीति-रिवाजके जो कार्य अर्जुन, तुझे अपने करने योग्य नहीं जँचते, तेरे स्टैण्डर्डसे नीचे हैं, उन्हें भी तू करता चल; क्योंकि तुझे देखकर समाजके दूसरे लोग भी उन्हें करेंगे, नहीं तो वे भी छोड़ देंगे। यह लोकसंग्रह ही रूढ़िवाद, अपरिवर्तनवाद, परम्परावादका पिता है और इसीकी पुत्री है अन्ध-श्रद्धा, जो कार्यके स्वरूपकी पूजा करती है, उसके तत्त्वका — कार्याकार्यका — ऊहापोह नहीं !

महाभारतसे मुसलमानी राज्य तक यह बिखराहट बढ़ती गयी, पनपती

रही और अँगरेजी शासनने तो उसे शत-शत प्रयत्नोंसे पूर्णता तक पहुँचा दिया। इस प्रकार हजारों वर्षोंके लम्बे समयमें हमारा राष्ट्र शस्त्रहीन, शिक्षाहीन, उद्योगहीन ही नहीं हुआ, जीवनहीन हो गया, पर बारहसे भी अधिक शक्तिशाली आक्रमणों और अँगरेजोंके षड्यन्त्रकारी घोर प्रयत्नोंके बाद भी यह राष्ट्र अन्तर्जीवनसे हीन नहीं हुआ, इसका रहस्य यही है कि जनताका संस्कृति – जीवन दर्शनके मूल स्रोत – से सम्पर्क बना रहा और यह विश्वके सांस्कृतिक इतिहासका कितना बड़ा चमत्कार है कि इस महान् सम्पर्कका मूल है अन्ध-श्रद्धा – तर्कहीन विश्वास; और यों अन्धश्रद्धाने हमें लम्बी शताब्दियों तक जीवित रखा!

कुम्भमें हमने यह भी देखा कि यह अन्ध-श्रद्धा कितनी गहरी है और यह भी कि यह अब कितनी सड़ गयी है। कुछ नमूने ये हैं:

कन्धेसे टखनों तक झूलता चोगा – गहरे काले कपड़ेका, सिरपर बने हुए बालोंकी जटा, माथेपर सिन्दूरका तिलक, आँखोंमें सुलफेकी लाली, मुँहमें बनी हुई लाल, लम्बी, लटकती जीभ, एक हाथमें खप्पर और दूसरा आशीर्वादकी मुद्रामें उठा हुआ, देखनेमें काली माई, असलमें बहुरूपियेकी कला।

कोने-कोनेमें फैली लाखोंकी भीड़में एक भी मानव ऐसा नहीं, जो न जानता हो कि यह काली नहीं, पर स्त्री-पुरुष उसके पाससे गुजरते हैं, हाथ जोड़ते हैं, पैसे खप्परमें डालते हैं और बालकोंसे उसके पैर छुआते हैं। बहुरूपिया चतुर है, वह बालकोंके सिरपर हाथ रखता है और इस प्रकार माता-पिताको कृतार्थ करता है। एक सप्ताहमें इस बहुरूपियेके खप्परमें एक हजार रुपयेसे अधिक पड़े। पूजा भी और व्यापार भी!

मस्त-ताजा विशाल हाथी, ऊपर चाँदीका बहुमूल्य हौदा, उसपर विराजमान महन्तजी और हाथी बाजारके बीचमें! आते-जाते नर-नारी

पैसा, इकन्नी, दुअन्नी, चवन्नी हाथीको देते हैं, वह अपनी सूँड़में ले अपने महावतको दे देता है। नर-नारी दोनों हाथोंसे हाथीको छू, आँखें बन्द कर अपने माथेसे लगाते हैं।

मैंने एक बुढ़ियासे पूछा, "क्या बात है मौसी ?"

बोली, "गनेसजी हैं बेटा ! तू भी छू ले !"

बीचमें विशाल धूनी, जलती-जागती और चारों ओर साधु लोग। इनमें पाँच-चार गुरुदेवकी चिलम खींच रहे हैं और होड़ लगी है कि कौन सबसे लट निकालता है, दो-चार साधु हथेलीपर तमाखूमें गाँजा मल रहे हैं, यह नयी चिलमोंकी तैयारी है। जब नयी चिलमोंमें 'सुलफा' पड़ता है तो एक साधु कहता है :

"चिलम चमेली, फूँक दे ठेकेदार की हवेली !"

चिलम भरकर मण्डलीके प्रधानको दी जाती है, तो वह जोरसे पुकारता है :

"चाहे दुनिया फुँके पर चिलम ना बुझे, हर-हर महादेव !"

कोई पीनेसे मना करता है, तो कायर समझा जाता है और उसपर करारे ताने पड़ते हैं :

"जिसकी चिलम ठण्डी, उस भड़वे की माँ रण्डी !"

और तब उसे प्रोत्साहन दिया जाता है, उकसाया जाता है :

"जो चलती चिलम पीवे, वो लाखों साल जीवे !"

और इसके बाद मण्डलीका प्रधान अपने हाथसे चिलम उसकी ओर बढ़ाते हुए कहता है, "अबे ले, पिये जा और जिये जा, क्या रखा है ना-नूमें। यह तो भोले भण्डारीका परसाद है। जब मुँह खोलो, तब हाँ बोलो !"

पाससे गुजरते लोगोंमें कोई मुफ्तका पिऊ मण्डलीके निकट ठिठकता है, तो उसे एक ललकार दी जाती है — "जा बच्चा, जा, अपनी राह लग,

सन्तोंके मुँह नहीं लगा करते !" उसके पैरोंकी ठिक हरकतमें नहीं आती, तो दूसरा साधु कहता है, "अरे, भोले भण्डारीने दी और सन्तोंने पी; तू क्या पियेगा लण्डोरे !"

इस मण्डलीमें नये आगन्तुकोंके लिए यह धिक्कार ही हो, ऐसा नहीं, उपहारका आयोजन भी है। आगन्तुक कोरा नहीं भग है और आते ही जेब या अण्टीमे पुड़िया निकालकर कहता है, "लो महाराज, यह गोली हमारी भी दाग दो !" तो तुरन्त आ-बैठ होती है और चेलाजी पुड़िया लेकर सुल्फा निकालते हैं। अब उसमें यदि पूरी खुराक है, तो कोई बात नहीं और मसाला कम है, तो एक हलकी-सी बौछार उसपर पड़ती है, "भगत, लाया है छर्रा और कहता है गोली, अरे, सन्तोंसे भी दीलमाल करता है !"

भगत यदि नम्र है और अपनी गरीबीका इशारा देता है, तो बड़े महाराज प्रसन्नतासे कहते हैं, "कोई बात नहीं बच्चा, गरीबी-अमीरी सब भगवान्‌की माया है। फिर सन्तोंके लिए तो लाख भी राख है और राख भी लाख है।"

चिलम भरी जाती है और सन्तोंके बाद भगतको दी जाती है। भगत सन्तोंकी पी हुई चिलम पी सकता है, पर उनकी 'साफी' का उपयोग नहीं कर सकता। साफी : एक पानीमें भिगोकर निचोड़ा हुआ साधारण वस्त्र, जिसे चिलमकी सलीपर लपेट, धुआँ खींचा जाता है। भगतकी अपनी साफी होनी चाहिए, नहीं तो उसे सूखी चिलम खींचनी पड़ेगी।

इस मण्डलीके पाससे भी यात्री नर-नारी गुजरते हैं, सिर झुकाते हैं, हाथ जोड़ते हैं और पैसे चढ़ाते हैं। वे देखते हैं ये साधु क्या कर रहे हैं, पर उनका मन जैसे तर्कहीन है और वे मानते हैं कि ये जो कर रहे हैं, उन्हें वही करना चाहिए।

नंगड़ी साधुओंकी एक ऐसी ही मण्डलीमें यह नारा मैंने सुना था — "साधू पिये, भजन में लीन। गिरस्ती पिये तो दुनिया दीन !" साधु यदि

नशा करे, तो भजनमें लीन रहे और गृहस्थ करे, तो वह दुःख और हीनतामें प्रसन्न रहे।'

हरद्वार उत्तर प्रदेश सरकारके नशा-निषेध क्षेत्रोंमें एक है, पर साधु-समाजके अनुरोधपर कुम्भके दिनों प्रान्तीय सरकारने इस निषेध-क्षेत्रको अबंध-क्षेत्र मान लिया था। पता नहीं भविष्यका विचारक इसके लिए प्रान्तीय सरकारकी प्रशंसा करेगा या घोर निन्दा?

यह हो रही है कथा। पण्डितजी तख्तपर हैं और जनता भूमिपर। पण्डितजी माला, त्रिपुण्ड्र आदिसे सुसज्जित हैं, पर गला पड़ा हुआ है और वही उनका लाउड स्पीकर है। भीड़ काफ़ी है और कोलाहल तो है ही। पण्डितजी कुछ बोल रहे हैं, बोले जा रहे हैं, यह कानोंके बलपर नहीं, आँखोंके सहारे ही मैं कह रहा हूँ; क्योंकि होठ हिलते तो दीखते हैं, कानोंमें कोई शब्द नहीं पड़ता — उनके द्वारपर तो कोलाहलका ही क़ब्ज़ा है। अब दृश्य यह है कि पण्डितजीके होंठ फड़क रहे हैं, श्रोता उन्हें देख रहे हैं, कथा है, पर शब्दहीन; जैसे यह मूक सिनेमाका कोई दृश्य हो!

मैं खड़ा-खड़ा यह दृश्य देख रहा हूँ और सोच रहा हूँ कि महात्मा गान्धी और पण्डित नेहरूकी सभाओंमें ज़रा लाउड स्पीकरके ख़राब होते ही जो लोग हल्ला मचाकर नाकमें दम करते रहे हैं, वे यहाँ एक भी अक्षर सुनाई न देनेपर शान्त मौन क्यों बैठे हैं? बड़ा पैना प्रश्न है, जो झकझोरता है और तब लगता है कि वे बैठे हैं, तो सन्तुष्ट है कि सुनाई नहीं देता, तो नहीं देता, पर पुण्य तो है।

देशकी आत्मा आज व्याख्यानसे कथाके अधिक निकट है, यह एक तथ्य हाथ आया। इसकी व्याख्या मैंने यों की कि हमारा राष्ट्र धर्मके निकट और राजनीतिसे दूर है और धर्म अपनेको खोकर अन्ध-श्रद्धाकी छायामें आश्रित है।

अन्ध-श्रद्धाकी इस छायामें हमारा राष्ट्र लम्बी शताब्दियों जीवित रहा, यह हमने देखा, पर क्या हम इसी छायामें जीते रहें? यह मुख्य प्रश्न बना! ना, ना, ना, यह भीतरका उत्तर है और इस उत्तरकी व्याख्या अभीष्ट है।

राष्ट्रकी सबसे बड़ी शक्ति है — राष्ट्र-चेतना। इसीका लोकप्रिय नाम है भारतीय संस्कृति। संस्कृति ही मूल जीवन-स्रोत है। राष्ट्रके ह्रास-कालमें जब जन-जीवनका सम्पर्क इस मूल-स्रोतसे टूट चला और यों जाति-के सर्वनाशका भय चारों ओर छाया, तो राष्ट्रके कर्णधारों, सन्तोंने जन-जीवनको मूल-स्रोतके साथ अन्ध-श्रद्धाके सूत्रमें बाँध दिया। यह अन्ध-श्रद्धा अन्धी-श्रद्धा भी रही और अन्धोंकी श्रद्धा भी। यह एक प्रकारकी विष-चिकित्सा थी — इसमें खतरा था, पर यह अनिवार्य थी, क्योंकि और कोई औषध उस दिन हमारे पास ही न थी, जो प्रभावशाली हो।

शताब्दियोंके मन्थन-संघर्षके बाद आज एक अमृत-कलश हाथ आया है और वह है राष्ट्रीयता। इस उल्लाससे आज भारतका भूगम बदल रहा है। इस उफानमें अन्ध-श्रद्धाको, जो आज बल न पाकर, मन्द हो है, धीरे-धीरे छँटना है और यों भारतीय जन-जीवन-राष्ट्रीयताको जीवन-दर्शनके मूल स्रोत भारतीय संस्कृतिसे जीवित रूपमें सम्बद्ध होना है। यही आजका युग-दर्शन है!

कुम्भका मुख्य प्रदर्शन साधुओंका गंगास्नान है। ये साधु अपने-अपने पन्थका जुलूस बनाकर एक निश्चित क्रमसे ब्रह्मकुण्डमें स्नान करने जाते हैं। इन जुलूसोंको शाही या स्वाही कहते हैं। ये स्वारियाँ देखने लायक होती हैं। इनमें बाजे होते हैं, हाथी होते हैं, घोड़े होते हैं, पालकियाँ होती हैं, चाँदीके आसे-बल्लम और पंखे होते हैं। हाथियोंपर चाँदीकी अम्बारियाँ—हौदे—और मखमलकी जरी-जड़ी झूलें होती हैं। ये पुराने राजाओंकी सवारियोंसे किसी बातमें कम नहीं होतीं और इन्हें देखकर

नवयुगके पत्रकारको अपनेसे पूछना पड़ता है : "युगकी जिस धारामें हमारे देशके राजा तिनकोंसे भी सस्ते बह गये, उसमें धर्मके ये राजा कब-तक टिके रहेंगे ?"

प्रश्न बड़ा वेधक है, पर इसका उत्तर उस दिन मिला, जिस दिन साधुसम्राट् जगद्गुरु शंकराचार्यका जुलूस निकला। आगे-आगे दो बाजे इसके बाद चाँदी-सोनेके आसे-बल्लम और मखमली पंखे और तब चाँदीकी अम्बारीमें विराजमान जगद्गुरु; पीछे हजारों संन्यासी !

यह अम्बारी इतनी विशाल और बोझल कि हाथीकी कमरपर पड़े, तो वह अपने कन्धे और पुट्ठे साधनेको विवश हो, पर आज यह बारह मानवीय कन्धोंपर प्रतिष्ठित और ये कन्धे न भक्तोंके, न शिष्योंके; कुछ रुपयोंपर लाये गये मजदूर मानवोंके; जिनकी देह फटे-मैले वस्त्रोंसे ढकी हुई – हाँ नंगे नहीं दीखते तो ढकी हुई ही, पैर नंगे और मैं देख रहा हूँ कि ये बारह दीन मानव पिसे जा रहे हैं, भीड़से भी और बोझसे भी।

मनुष्य कुछ पैसोंके बलपर किसी मनुष्यको वाहन बना, उसपर चढ़े यह अहंकारकी परिसीमा है !

मनुष्य कुछ पैसोंके लिए अपने कन्धोंपर किसी मनुष्यको ढो चले, यह विवशताकी परिसीमा है !

जहाँ ये दोनों परिसीमाएँ मिलती हैं, वहीं नवयुगके पत्रकारका वेधक प्रश्न अपना समाधान पाता है – 'हमारे देशमें जबतक दीनता है' – मानसिक दीनता, आर्थिक दीनता, सामाजिक दीनता – तभीतक धर्मकी यह अम्बारी है और जिस दिन यह दीनता युगका सहारा ले, शक्तिका रूप धारण करेगी, उसी दिन, उसी क्षण ये कन्धे यहाँ न होंगे और यह अम्बारी धड़ामसे धरतीपर आ गिरेगी।

इस धड़ामके साथ सब दिशाओंसे एक गूँज उठेगी – 'अब यहाँ कोई राजा नहीं रहा !" और हमारे कान सुनेंगे–'सामाजिक समानताकी जय !'

प्रश्नके समाधानसे मुझमें जो उत्साह उगा, उसने मुझे विचारके एक नये द्वारपर खड़ा कर दिया — इस धार्मिकताके प्रति हमारे आकर्षणका केन्द्र-बिन्दु क्या है ?

यह केन्द्र-बिन्दु है परलोक !

और यह परलोक हमारी किस मानसिक वृत्तिका प्रतीक है ?

अमर जीवनका !

और अमर जीवनका रहस्य क्या है ? स्वरूप क्या है ?

जीवनमें निरन्तर कर्म-सत्कर्म और परलोकमें पूर्ण सुख-शान्ति ! तो परलोककी भावना इस जीवनको शुद्ध, सत्कर्मरत रखनेका प्रेरक प्रकाश है और यों जीवन है यात्रा और परलोक है लक्ष्य — एक है सफर दूसरा है मंज़िल !

कितना उल्लास है इस विचारमें, पर यह भी तो यहो है कि हम आज जीवनकी शुद्धताको खोकर, बाह्य कर्मकाण्डोंके सहारे परलोकका सुख चाहते हैं। ओह, उस यात्रीकी तरह, जो यात्राका कष्ट उठाये बिना ही, तीर्थपर पहुँचनेका सुख चाहता है — तीर्थकी तसवीरें और दूसरी चीज़ें अपने घरमें रखकर !

मैं सोच रहा हूँ और देख रहा हूँ कि जहाँ जगद्गुरु स्नान कर रहे हैं, उनके सामने ही तटपर खड़ा है एक पण्डा, अपनी मरी-सी बछिया लिये और एक यजमान बैठा है बछियाके पास ! बछियाके गलेका रस्सी यजमानके अँगूठेमें दबी है, उसीमें दबा है सवा रुपया और थोड़ा गंगाजल। पण्डाजी बोल रहे हैं संकल्प — कुछ शुद्ध, कुछ अशुद्ध और कुछ अण्ड-बण्ड, सब मिलाकर इसका अर्थ है : "मैं यजमान स्वर्गके मार्गमें स्थित वैतरणी नदीको सुखपूर्वक पार करनेके लिए यह गौ अपने पुरोहितको दान करता हूँ।"

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दियोंमें यूरोपके पादरी नियत मूल्य लेकर ईसाके नामपर पापमुक्तिका प्रमाण-पत्र बेचा करते थे, यह गोदान क्या

नवयुगके पत्रकारको अपनेसे पूछना पड़ता है : "युगकी जिस धारामें हमारे देशके राजा तिनकोंसे भी सस्ते बह गये, उसमें धर्मके ये राजा कब तक टिके रहेंगे ?"

प्रश्न बड़ा वेधक है, पर इसका उत्तर उस दिन मिला, जिस दिन साधुसम्राट् जगद्गुरु शंकराचार्यका जुलूस निकला। आगे-आगे दो बाजे इसके बाद चाँदी-सोनेके आसे-बल्लम और मखमली पंखे और तब चाँदीकी अम्बारीमें विराजमान जगद्गुरु; पीछे हजारों संन्यासी !

यह अम्बारी इतनी विशाल और बोझल कि हाथीकी कमरपर पड़े, तो वह अपने कन्धे और पुट्ठे साधनेको विवश हो, पर आज यह बारह मानवीय कन्धोंपर प्रतिष्ठित और ये कन्धे न भक्तोंके, न शिष्योंके; कुछ रुपयोंपर लाये गये मजदूर मानवोंके; जिनकी देह फटे-मैले वस्त्रोंसे ढकी हुई – हाँ नंगे नहीं दीखते तो ढकी हुई ही, पैर नंगे और मैं देख रहा हूँ कि ये बारह दीन मानव पिसे जा रहे हैं, भीड़से भी और बोझसे भी।

मनुष्य कुछ पैसोंके बलपर किसी मनुष्यको वाहन बना, उसपर चढ़े यह अहंकारकी परिसीमा है !

मनुष्य कुछ पैसोंके लिए अपने कन्धोंपर किसी मनुष्यको ढो चले, यह विवशताकी परिसीमा है !

जहाँ ये दोनों परिसीमाएँ मिलती हैं, वहीं नवयुगके पत्रकारका वेधक प्रश्न अपना समाधान पाता है – 'हमारे देशमें जबतक दीनता है' – मानसिक दीनता, आर्थिक दीनता, सामाजिक दीनता – तभीतक धर्मकी यह अम्बारी है और जिस दिन यह दीनता युगका सहारा ले, शक्तिका रूप धारण करेगी, उसी दिन, उसी क्षण ये कन्धे यहाँ न होंगे और यह अम्बारी धड़ामसे धरतीपर आ गिरेगी।

इस धड़ामके साथ सब दिशाओंसे एक गूँज उठेगी – '
राजा नहीं रहा !" और हमारे

प्रश्नके समाधानसे मनमें जो उत्साह उगा, उसने मुझे विचारके एक नये द्वारपर खड़ा कर दिया — इस धार्मिकताके प्रति हमारे आकर्षणका केन्द्र-बिन्दु क्या है ?

यह केन्द्र-बिन्दु है परलोक !

और यह परलोक हमारी किस मानसिक वृत्तिका प्रतीक है ?

अमर जीवनका !

और अमर जीवनका रहस्य क्या है ? स्वरूप क्या है ?

जीवनमें निरन्तर कर्म-सत्कर्म और परलोकमें पूर्ण सुख-शान्ति ! तो परलोककी भावना इस जीवनको शुद्ध, सत्कर्मरत रखनेका प्रेरक प्रकाश है और यों जीवन है यात्रा और परलोक है लक्ष्य — एक है सफ़र दूसरा है मंज़िल !

कितना उल्लास है इस विचारमें, पर यह भी तो सही है कि हम आज जीवनकी शुद्धताको खोकर, बाह्य कर्मकाण्डोंके सहारे परलोकका सुख चाहते हैं। ओह, उस यात्रीकी तरह, जो यात्राका कष्ट उठाये बिना ही, मंज़िलपर पहुँचनेका सुख चाहता है — तीर्थकी तस्वीरें और दूसरी चीज़ें अपने घरमें रखकर !

मैं सोच रहा हूँ और देख रहा हूँ कि जहाँ भगवद्भक्त स्नान कर रहे हैं, उनके सामने ही तटपर खड़ा है एक पण्डा, अपनी गद्दी-सी बछिया लिये और एक यजमान बैठा है बछियाके पास। बछियाकी पूँछ यजमानके अँगूठेमें दबी है, उसीमें दबा है सवा रुपया और थोड़ा गंगाजल। पण्डा जी बोल रहे हैं संकल्प — कुछ शुद्ध, कुछ अशुद्ध और कुछ ऊट-पटाँग, सब मिलाकर इसका अर्थ है "मैं यजमान स्वर्गके मार्गमें स्थित वैतरणी नदीको सुखपूर्वक पार करनेके लिए यह गौ अपने पुरोहितको दान करता हूँ।"

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दियोंमें दुर्दैवके मारे निरक्षर ईसाई चर्चके पादरियोंसे पापमुक्तिका प्रमाण-पत्र लेकर करते थे

कुम्भ महान् : १९५४

नवयुगके पत्रकारको अपनेसे पूछना पड़ता है : "युगकी जिस धारामें हमारे देशके राजा तिनकोंसे भी सस्ते बह गये, उसमें धर्मके ये राजा कब-तक टिके रहेंगे ?"

प्रश्न बड़ा वेधक है, पर इसका उत्तर उस दिन मिला, जिस दिन साधुसम्राट् जगद्गुरु शंकराचार्यका जुलूस निकला। आगे-आगे दो बाजे इसके बाद चाँदी-सोनेके आसे-बल्लम और मखमली पंखे और तब चाँदीकी अम्बारीमें विराजमान जगद्गुरु, पीछे हज़ारों संन्यासी !

यह अम्बारी इतनी विशाल और बोझल कि हाथीकी कमरपर पड़े, तो वह अपने कन्धे और पुट्ठे साधनेको विवश हो, पर आज यह बारह मानवीय कन्धोंपर प्रतिष्ठित और ये कन्धे न भक्तोंके, न शिष्योंके, कुछ रुपयोंपर लाये गये मज़दूर मानवोंके; जिनकी देह फटे-मैले वस्त्रोंसे ढकी हुई – हाँ नंगे नहीं दीखते तो ढकी हुई ही, पैर नंगे और मैं देख रहा हूँ कि ये बारह दीन मानव पिसे जा रहे हैं, भीड़से भी और बोझसे भी।

मनुष्य कुछ पैसोंके बलपर किसी मनुष्यको वाहन बना, उसपर चढ़े यह अहंकारकी परिसीमा है !

मनुष्य कुछ पैसोंके लिए अपने कन्धोंपर किसी मनुष्यको ढो चले, यह विवशताकी परिसीमा है !

जहाँ ये दोनों परिसीमाएँ मिलती हैं, वहीं नवयुगके पत्रकारका वेधक प्रश्न अपना समाधान पाता है – 'हमारे देशमें जबतक दीनता है' – मानसिक दीनता, आर्थिक दीनता, सामाजिक दीनता – तभीतक धर्मकी यह अम्बारी है और जिस दिन यह दीनता युगका सहारा ले, क्रान्तिका रूप धारण करेगी, उसी दिन, उसी क्षण ये कन्धे यहाँ न होंगे और यह अम्बारी धड़ामसे धरतीपर आ गिरेगी।

इस धड़ामके साथ सब दिशाओंसे एक गूँज उठेगी – 'अब यहाँ कोई राजा नहीं रहा !" और हमारे कान सुनेंगे–'सामाजिक समानताकी जय!'

क्योंकि पतनकी इस परम्परामें यह भय उत्पन्न हो गया है कि हमारे राष्ट्रकी महान् विभूति अध्यात्म कहीं एक शास्त्रीय सिद्धान्त होकर ही न रह जाये; जैसे कुछ पुरानी हवेलियोंमें पूर्वजोंका कोष गड़े रहनेका विश्वास-वहम परिवारके सदस्योंपर छाया रहता है कि है ज़रूर, पर पता नहीं क्या, पता नहीं कहाँ ?

बाहरी रूपमें देशके दो मुख्य अंग हैं, जिनपर राष्ट्रका पतन और उत्थान निर्भर है – जनता और शासन। कुम्भमें दोनोंका पूरा प्रदर्शन था और यों दोनोंके मानसिक विकासके अध्ययनका पूरा अवसर! तो क्या हमारे राष्ट्रके नवीन अभ्युदयकी पुण्य-वेलामें राष्ट्रकी जनता और शासन-सत्तामें जो धीरे-धीरे मानसिक क्रान्ति हो रही है, इस अध्ययनके प्रकाशमें हम उसे शब्दोंमें खोल सकते हैं। हाँ निश्चित रूपसे।

लम्बी शताब्दियों तक जिस शासनकी चारदीवारीमें यह राष्ट्र रहा वह राजाधिराजका था, बादशाहे-आलमका था या गवर्नर जनरलका, इस बातमें समान था कि उसकी दृष्टिमें जनताका कोई सम्मान न था – वह उनके उपयोगकी वस्तु थी या उपभोगकी। इस कुम्भमें हमारे इतिहासने पहली बार देखा कि शासन हर दिशामें जनताकी सेवाके लिए, उसके सम्मानकी रक्षाके लिए सतर्क है। जनता ही राष्ट्रकी मूल शक्ति है, वन्दनीय है, स्वामिनी है और शासनका कार्य उसकी वन्दना है, यह कुम्भमें पहली बार, पर प्रत्यक्ष रूपमें हमने देखा और मैं इसे १९५० के कुम्भका महान् उपहार मानता हूँ।

ग़लत स्थानमें शौचके लिए यात्री बैठने लगा तो सिपाहीने उसे मना किया। वह सिपाहीको गालियाँ देने लगा, पर सिपाही वहाँसे न हटा और गालियाँ खाता रहा। अन्तमें उसने कहा, "अरे भाई, मेरे सिरपर यह लाल पगड़ीकी टोपी है, इसलिए तू चाहे जितनी गालियाँ दे ले। यह सिरपर न होती, तो तुझे हरेक गालीका मोल मिल जाता!"

उसीकी भारतीय प्रतिलिपि नहीं है ? इसी प्रश्नका उप-प्रश्न है यह – तो क्या मानसिक विकासकी दृष्टिसे हम अभी पन्द्रहवीं शताब्दीमें ही जी रहे हैं ?

यह धार्मिकता कुछ भी हो, अब जीवित नहीं रह सकती; पर हाँ, इस घोषणामें एक भ्रमकी सम्भावना है – क्या वशिष्ठ, विश्वामित्र, पतंजलि, कृष्ण और अरविन्द-द्वारा पोषित हमारी अध्यात्मसाधना भी बह जायेगी ? ना, वह शाश्वत सत्य है, धार्मिकताकी यह प्राचीर टूटते ही वह सत्य अधिक चमकेगा और जीवनमें सुलभ होगा।

यों समझना है कि अध्यात्म है निधि। वह समयके घात-प्रतिघातोंमें खतरेमें पड़ चली, तो सन्तोंने धार्मिकताकी झाड़ी उसपर रोप दी। यह झाड़ी खूब फली-फूली और निधिपर छा गयी, पर समयके अगले घात-प्रतिघातोंमें निधिको लोग भूल गये और उससे भी आगे यह कि यह झाड़ी ही वह निधि मानी जाने लगी। नवयुगका माली इस झाड़ीको झाँग रहा है कि वह निधि प्रकाशमें आये। यह शुभ है, पर मूख नागरिक नाखून काटनेको उँगली काटना मानकर चिल्ला उठे, तो नाई क्या करे ?

मूर्ख नागरिककी यह चिल्लाहट भयावह है, इसके साक्षात् अनुभवका अवसर कुम्भमें था। एकत्रित जनताकी मानसिक दशाका गम्भीर अध्ययन साक्षी है कि राष्ट्रमें सांस्कृतिक जागरणका क्षेत्र तैयार है, पर प्रश्न यह है कि उसे कौन बोये ? क्या यह कार्य स्वतन्त्र राष्ट्रकी शासन-सत्ता कर सकती है ? ना, वह तो अधिकसे अधिक सामाजिक नैतिकता तक ही, जनताको ले जा सकती है।

दुर्भाग्य है कि सांस्कृतिक जागरणका अनुष्ठान करनेको आगे आये नेता, विद्वान् और संस्थाएँ, नेतृत्वके मोहमें भटककर राजनैतिक परिग्रहमें फँस-उलझ जाते हैं। निश्चय ही अध्यात्मसे नीचे गिरकर प्रचारमें पड़नेवाले ये लोग संस्कृति-रक्षाके लाखों नारे लगाकर भी संस्कृतिके शत्रु ही हैं और यों घोर अभागे, पर यह इनका ही नहीं हमारे राष्ट्रका भी अभाग्य है;

उत्तर प्रदेशके मुख्य मन्त्री माननीय श्री गोविन्दवल्लभ पन्त ब्रह्मकुण्ड में स्नान करनेको पधारे। एक अधिकारीने चाहा कि उनके लिए स्थान कर दिया जाये, पर उन्होंने मना कर दिया और गंगामें उतर गये। स्नान कर रही जनता उनके चारों ओर हो गयी और कुछने तो उनपर लाड़में पानीके छींटे भी मारे। हँसते-झुकते वे भीड़के बीचसे ही निकल गये।

इन दो घटनाओंमें शासनके नये दृष्टिकोणका धरती-आकाश है, पर इस धरतीकी पवित्रता और इस आकाशकी उच्चता इन घटनाओंमें सुरक्षित है –

मेला-अफसर श्री च० मो० निगम, पुलिस-अफसर श्री ला० बा० बैजल और श्री सतीशचन्द्र आई० सी० एस० (बादमें उत्तर प्रदेशके विकास-आयुक्त) के साथ मैं प्रधान हेल्थ-अफसर श्री गुप्ताके घर भोजन कर रहा था कि फोन आया – भारतकी विख्यात नारी-सन्त लखनऊसे देहरादून जाते समय हरद्वारमें कुछ देर ठहर – स्नान कर – देहरादून जाना चाहती हैं। आप ऐसी व्यवस्था कर दें कि उन्हें टीका न लगवाना पड़े।

मैंने देखा, ये अफसर परेशान हो रहे हैं और भोजनसे उनका ध्यान उचट गया है। ये सब भी उनके भक्त हैं और उत्सुक हैं कि वे गंगास्नान कर सकें, पर वे टीकेसे कैसे बचें? बहुत-से हल सोचे गये, क़ानूनका सूक्ष्म अध्ययन हुआ, तो जाना गया कि लखनऊमें स्थित सर्वोच्च अधिकारी ही इसकी आज्ञा दे सकते हैं। उन्हें टेलेफोनकी काल बुक करायी गयी। तभी एक सज्जन बोले, "बैजल! तुम उन्हें स्टेशनसे अपनी मोटरमें बैठा लाना और स्नान कराकर उसीमें छोड़ आना। बस कोई नहीं टोकेगा।" सब लोग हँस पड़े। श्री बैजलने कहा, "जी, यह तो मैं पहलेसे ही जानता हूँ कि मेरी मोटरको कोई नहीं रोकेगा, पर हम एक आदमीको इस तरह टीकेसे बचा दें, तो फिर जनताको कैसे बाध्य कर सकते हैं कि वह टीका अवश्य लगवाये!" मैंने सुना, तो मैं स्तब्ध रह गया – ओह, हमारे शासन-

सन्तमें ऐसे भी लोग हैं, जो जीवनको पवित्रताकी तराजूके पलड़ोंपर नहीं, आँखोंकी पलकोंपर तोलते हैं ?

इस तोलका पूरा प्रदर्शन उस दिन हुआ, जब भारत-सरकारके एक मन्त्री कुम्भमें पधारे ! मेलेकी सीमापर उन्हें रोककर कहा गया कि वे टीका लगवायें। वे तैयार न हुए, तो मेला-अफसर और पुलिस-अफसरको फ़ोन किया गया, पर दोनोंने कहा कि हम कुछ नहीं कर सकते, क्षमाप्रार्थी हैं। तब स्वायत्त-शासन मन्त्री माननीय श्री आत्माराम गोविन्द खेरको फ़ोन किया गया, पर उन्होंने साफ कह दिया, "ना, ना, मैं कैसे टीकेवालोंको रोक सकता हूँ। मैं खुद टीका लगवाकर आया हूँ!" और मन्त्री महोदयको कुरतेकी आस्तीन चढ़ाकर सुई चुभवानी पड़ी !

बहुत-सी भूलोंने एक दुर्घटनाको जन्म दिया और कुछ नर-नारी बालक कुचलकर मर गये। कुम्भके बाद एक दिन तमाम पुलिस कर्मचारी, प्रान्तीय रक्षादलके सदस्य, गुप्तचर पुलिसके कर्मचारी और स्वयंसेवक, एक मौन जुलूसके रूपमें ब्रह्मकुण्डपर एकत्रित हुए और इस प्रदेशके डिप्टी-इन्सपेक्टर जनरल ऑव पुलिस श्री कटार सिंहने सबकी ओरसे उन मृतकोंको श्रद्धाञ्जलि दी ! ब्रह्मकुण्डने लाखों श्रद्धाञ्जलियाँ देखी हैं और लाखों ही पितृ-तर्पण, पर उस दिनका दृश्य ब्रह्मकुण्डने पहले कभी नहीं देखा था, यह असंशय है। इस दृश्यपर मैं जब-जब विचार करता हूँ, अपनेमें खो-सा जाता हूँ। कहाँ पुराने कुम्भोंके भयंकर लाठी चार्ज और कहाँ यह श्रद्धाञ्जलि ? मेरा विश्वास है इस दृश्यको देखकर आकाशमें देवता हँसे, धरतीपर नवयुग मुसकराया और गंगा इसे अपने आँचलमें समेट कृतार्थ हो गयी !

यह हुआ शासनकी मानसिक क्रान्तिका लेखा, पर यह महान् होकर भी अपनेमें अपूर्ण है, यदि हम हरद्वारके स्टेशनकी बात न सुनें !

डालदार घेरे, पत्थरके फ़र्श, बैशाखकी बिलबिलाती धूप और तीन-तीन दिन तक उनमें बन्द भूखे-प्यासे और हाजितमन्द मुसाफ़िर, जिनके

बालक बिलखते और स्त्रियाँ गश खा जातीं। बादशाही हुक्मसे जीते-जी कोल्हूमें पीलनेकी नृशंसताको मात करनेवाले दृश्य हरद्वार स्टेशनने अंग्रेजी हुकूमतमें देखे हैं, पर इस बार तो यह प्रबन्ध-व्यवस्थाका एक म्यूज़ियम था। हर दिशाका अलग घेरा, जिसपर सायबानका साया, पीनेका पानी, नहानेका नल, शौचालय और अपना टिकिटघर। हर टिकिटपर वही चित्र, जो उस घेरेपर, जो उस टिकिटघरपर, जो उस ट्रेनपर और जो उस मार्गपर। पूछनेका काम नहीं, भटकनेका नाम नहीं – अफ़सरोंका यह निर्णय कि किसी यात्रीको ४५ मिनिटसे अधिक घेरेमें प्रतीक्षा न करनी पड़े। हरद्वारका स्टेशन कुम्भका ही नहीं, हमारे नये युगका एक चमत्कार था।

इस चमत्कारकी रचनामें जाने कितने हाथ और मस्तिष्क लगे थे, पर उन सबका प्रतिनिधित्व था – रेलवे-प्रबन्धक श्री दरमें। श्री दर : एक अनथक, नवयुवक, सदा हँसते, सदा सावधान, सर्वदा और सर्वथा प्रस्तुत, सूझसे भरे, बूझके पण्डित और सरस-सजीव! पैर उनके लोहेके, दिमाग उनका रबड़का – हमेशा नयी लचकके लिए तैयार और संक्षेपमें अपनी जगह बेजोड़ आदमी, जिनपर हम गर्व कर सकते हैं।

और लो, यह है जनताकी मानसिक क्रान्तिका एक मुख्तसर हिसाब भी यहीं!

कुम्भ साधुओंका पर्व है और इसीलिए पर्व-कालका अधिकांश समय साधुओंके स्नानमें बीत जाता है, यह पहला अवसर था कि जनसाधारणके मानसिक क्षितिजमें विद्रोहकी उषाने झाँककर कहा, "क्या हम अछूत हैं, जो साधुओंके साथ स्नान न करें?" और यह विद्रोह गरजकर चुप न हुआ, आगे बढ़ा कि हर शाहीके साथ कुछ-न-कुछ लोग आ कूदे और नहाये। कुछ शिक्षित लोगोंने अफसरोंका ध्यान इधर आकर्षित भी किया कि खाली स्थानमें जनताको नहाने दिया जाये और उनकी बातको मान दिया गया।

यह भी उसी भावनाका एक रूप था कि साधुओंको इस बार खुले

मार्ग नहीं मिले और उन्हें अनेक बार भीड़में झटके लेने पड़े। एक साधुने मुझसे कहा, "इस बार पब्लिकने बहुत रास्ता घेरे रखा। पहले यह होता था कि महात्माओंको जिधर जाना होता था, पुलिस डण्डे मार-मारकर रास्ता साफ कर देती थी, पर इस बार तो ऐसा लगता है कि पुलिसवाले बीमार हैं!" मैंने कहा, "महाराजजी, यह बीमारी तो अब घटती नजर नहीं आती, बढ़ ही रही है और ऐसा लगता है कि अगले कुम्भमें आप भीड़में कहीं खो न जायें!"

इस विनोदमें अनजाने मैंने जो कुछ कहा, उसका अर्थ है कि जनताका उद्वेलित मन पूछता है, 'जब अपनेको ईश्वरका अंश और स्वरूप माननेवाले राजा इस युग-परिवर्तनमें अपनेको मनुष्य माननेके लिए मजबूर हो चुके, तो ये ईश्वरके भक्त साधु अपनेको मनुष्य माननेमें क्यों हिचकिचा रहे हैं?'' यह भारतके भूगर्भमें धर्मके प्रति उमड़ रहे विद्रोहका धुआँ था, जो कल प्रज्वलित होगा, तो धर्मके ढोंगकी इस छावनीको फूंककर ही शान्त होगा!

इस विद्रोहकी एक सृजनात्मक धारा भी पूरे वेगसे कुम्भमें बहती दिखाई दी। वह थी नागरिक भावनाकी धारा। शासन और स्वयंसेवक संस्थाने आरम्भमें ही प्रबन्ध-व्यवस्थाको इस तरह बाँधा कि अपार जनतामें व्यवस्थाकी एक मानसिक लीक बन गयी। लोग इशारेपर अपने हाथ चलते, धूपमें खड़े होते, खड़े रहते, कण्ट्रोल ऑफिसके आदेशोंका पालन करते और यों व्यवस्थाको चालू रखनेमें अपना भाग बँटाते। मैं इसे कुम्भकी सबसे बड़ी बात मानता हूँ।

यह मानसिक लीक कितनी गहरी है, इसका एक चित्र यह। मैं श्रीमती विद्यावती कौशलके साथ जा रहा था कि बातोंमें उलझे हम सड़कपर आ गये। रातका समय, सड़क शान्त। हमारी बराबरीमें एक मजदूर निकला। बोला, "राधेश्याम राधेश्याम।" मैंने कहा, "राधेश्याम राधेश्याम।" तब वह प्यारसे बोला, "बाबूजी, अपने हाथ चलिए और इन बीबीजीको भी इधर कर लीजिए।"

मैंने ज़रा तनकर कहा, 'क्यों भाई ?'' तो बोला, "साहब, हरेक
अपने हाथ चलना चाहिए और सड़कको सीधे चलना चाहिए।"

विद्यावतीने मुझसे कहा, "आप बार-बार कुम्भके जिस जन-शिक्षणकी
प्रशंसा करते हैं, यह मजदूर उसका पूरा प्रतिनिधि है।"

मेरा मन अपनी भावुकतामें डूब गया और मुँहसे निकल पड़ा, "राधे
श्याम ! राधेश्याम !" यह उस प्रतिनिधित्वको मेरा प्रणाम ही था !

■

कार्यान्वित होती है। आगे आये अब एक सफल उत्सवकी कल्पना आज-कल में ही कर सकते थे। इस योजनाका आरम्भ हो या कि नगरीका एक हरिजन बाबूके नामका हरिजन-सेवकको माला पहनावें। वह माला हाथमें लिये चला, तो उसने देखा कुरसीपर हैं एक इसान और गहरा एक गोर। भला यहाँ, पर गोर तो गोर ही है। उस सज्जनने गोरको ही मनमाना आशादन माना और वह पूज्य माखनलालजीकी ओर बढ़ा। उन्होंने उंगलीके इशारेसे रोका, "उधर।" यह गोरका इशारा था, इसान-की ओर बढ़ा, पर इधरसे दोनों हाथोंका सहारा-सा दे, पुकारा, "हाँ हाँ ठीक है।" माला हरिजन अब फिर गोरकी ओर, और बस यहीं वह दृश्य कि माखनलालजी उठकर खड़े हो गये और उन्होंने हरिजनके हाथोंसे अपने हाथ सटा, मालाको कुछ इस तरह छू लिया, जैसे एक पुराने चित्रमें राधा और कृष्ण एक ही बाँसुरीको साधे खड़े हैं। अब चार पैर, चार हाथ, दो मस्तक और दो हृदय एक ही माला लिये आगे बढ़े और यों वह माला, भाग्यशालिनी माला वियोगी हरिजीके गले पड़ी। जाने कौन-कौन धन्य हो गया, उस दृश्यको देखकर। वियोगी हरिजी बोलने लगे और दादा स्टेशन आ गये, पर हमारा भाग्य कि गाड़ी एक घण्टा लेट। उनके साथ थे प्रोफ़ेसर बिल्लोरे और अध्यापक जगदीश गुरु। वे इन दोनोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते रहे और दोनोंके गीत उन्होंने हमें सुनवाये। यहीं तो ये नयी पीढ़ीके दादा हैं। सम्मेलनकी स्थितिसे वे बहुत दुःखी थे, पर सारे हिन्दी संसारकी तरह विवश। मैंने सोचा — यह विवशता विद्रोहको कब जन्म देगी!

उसी शामको इन्दौरके विशाल गान्धी हॉलमें!

सात्विक-सजा मंच और जनतासे खचाखच भरा हॉल, स्त्रियाँ भी, पुरुष भी। यह महान् साहित्य-साधक पूज्य श्री माखनलालजीका अभिनन्दनोत्सव है, जहाँ मध्य भारतकी भावनाके प्रतिनिधि अपनी श्रद्धाके फूल

चढ़ानेको आ जुटे हैं। अभिनन्दनीयकी वन्दनीया बहन श्रीमती कमला बाई किबे सभापतिके स्थानपर और उत्सव आरम्भ।

कन्याओंके कमनीय स्वरोंमें विश्वका महान् राष्ट्रगीत वन्दे मातरम् गूँजा कि सब खड़े हो गये, इन सबके विचारोंमें विविधता है, स्वभावोंमें विविधता है, पर सब समान खड़े हैं, यही तो है हमारे राष्ट्रकी एकता जो हमने इतिहासमें पहली बार १५ अगस्त १९४७ को उपार्जित की— एक राष्ट्र, एक राष्ट्रपति, एक राष्ट्र-भाषा और एक राष्ट्र-विधान। कण जब अपनेको विराट्का भागीदार अनुभव करता है, तो गौरवकी दीप्तिमें उसकी प्रशस्त लघुता कैसी प्रचण्ड हो उठती है?

गौर वर्ण, धवल वेष, उत्फुल्ल आँखें, प्रफुल्ल मुख-मुद्रा और उसपर लाल तिलक, जाने कब, किस दिन हमारे अतीतमें सौन्दर्य-शास्त्रकी इस अभिवृद्धिने जन्म लिया होगा। मालाएँ भी उनके गलेमें पड़ीं और उतर-कर तकियेपर आ गयीं तो जैसे बिना कहे ही कविने कह दिया—तुम्हारे रक्तकी लालिमामें लसित भावना मुझे स्वीकार, पर उसका आवेग तुम्हें किसीके द्वार भिखारी बना दे, तो मुझे स्वीकार नहीं, भले ही वह किसी उपवनकी लता हो, या भवनकी लक्ष्मी! इतनी सुन्दर मालाएँ मैंने जीवन-में बहुत कम देखी हैं, सचमुच इन्दौर समृद्धिका नगर है।

अभिनन्दन-पत्र पढ़ा गया और तब वे बैठे-बैठे ही बोले। क्या बोले? प्रश्न उचित है, पर इसका समुचित उत्तर सम्भव नहीं। वे बोलने लगे, तो लगा कि भाषण आरम्भ हुआ है, पर कुछ ही क्षणोंमें सारा वातावरण एक ऐसे सन्नाटेमें डूब गया कि मैं उसमें खो गया। दादा वचन और प्रव-चन, काव्य और श्राव्य दोनोंमें शैलीकार हैं। उनकी कविता, उनकी बात-चीत, उनके लेख और उनका भाषण—सबपर उनकी शैलीका निरालापन छाया रहता है और गूँगेके गुड़की तरह हम स्वयं उसका रस ले तो पाते हैं, पर दूसरोंको दे नहीं पाते!

शायद मैं अपने मनोभावोंकी अभिव्यक्ति कुछ यों कहकर कर सकूँ

कि हम गंगामें स्नान करनेको उतरते हैं, तो हमपर श्रद्धाकी भावना कुछ इस तरह छा जाती है कि गंगाके प्रवाहकी राष्ट्रके लिए आर्थिक उपयोगिता और वातावरण एवं तरंगोंका सौन्दर्य हम देखकर भी नहीं देख पाते !

वे बोल रहे थे, तो हम भाव-गंगाकी इसी धारामें डूब-उतरा रहे थे। धाराके बहते ऐसे भी क्षण आते हैं, जब कोई जलचर अपना कर्कश चेहरा धारासे ऊपर उभार, प्रवाहकी तरलताको क्षण-भरके लिए भंग कर देता है। निश्चय दृश्यमें भी एक सौन्दर्य होता है।

ऐसे ही कुछ क्षण इस भाषण-प्रवाहमें भी तब आये, जब उन्होंने अपने पिछले जीवनकी एक खिड़कीको जरा यों ही खोलते हुए-से कहा, "जीवनमें एक दिन देउस्करजीने काशीके दशाश्वमेध घाटपर खड़े हो, मेरे हाथमें पिस्तौल देनेके बाद गीताकी पोथी भी थमा दी। विद्रोहीकी पिस्तौल काम करती है और कभी हाथ काँपते हैं, तो गीताका बल अपना काम करता है। दिल्ली दरबारके बम-काण्डके बाद इन्हीं हाथों कई काँपते तरुणोंको समाप्त किया गया। ऐसा न होता, तो उस काण्डका इतिहास कुछ और ही दिशा लेता !"

मैंने यह सुना, तो लगा कि हम माखनलालजीके साहित्यकी जिस विशालताका आज अभिनन्दन कर रहे हैं, वह तो उनके जीवनकी विराट्ताकी छाया ही है और क्या महान् लेखक माखनलालके जीवनकी यह विराट्ता अनलिखी ही रह जायेगी ?

पैंतालीस मिनिट वे बोले और तकियेसे आ लगे। कई बार देखा है कि उनकी वाणी अपनी ओरसे कभी नहीं बोलती। वे भाषण करें या कविता पढ़ें और या फिर किसी विचार-विमर्शमें ही सम्मति दें, उसे हृदयके निरन्तर निर्देशनमें चलना पड़ता है। यही कारण है कि उनके स्नायु-जालपर सदैव ज़ोर पड़ता है, जिसे वे भले ही न कहें, सहते तो हैं ही ! और फिर हृदयकी यह सतत जागरूकता जीवनके हर व्यवहारमें हृदयका यह संगम ही तो माखनलाल है !

धन्यवादके साथ यह अनुष्ठान पूर्ण कि मालव साहित्यकार-संसद्के सभापति कवि डॉक्टर शिवमंगल सिंह 'सुमन' के अधिपतित्वमें कवि-सम्मेलन आरम्भ। बलिहारी 'सुमन' के शालीन-चातुर्यकी कि आरम्भमें ही पढ़ीं पूज्य माखनलालजीने अपनी दो कविताएँ। ओह, उनको 'माँ!' अजर भी और अमर भी, भावों और घावों-भरी महान् कृति! सचमुच माखनलालजीकी अपनी जगह कोई जोड़ नहीं और वे, वे—जिन्हें यह जा रहा युग नहीं, वह आ रहा युग ही ठीक-ठीक पहचानेगा।

कवि-सम्मेलनका वातावरण यों जमकर उतरा, सो बस उतरा और मैंने सोच लिया कि अनुष्ठान और तमाशा कभी एक साथ न हो, भजनो-पदेशकोंको भीड़ जोड़नेका काम सौंप, आर्यसमाजके प्रवक्ता कहाँ पहुँचे?

मेरा अभिनन्दन महान् माखनलालके श्रीचरणोंमें और मेरी बधाई उन भावुक तरुणोंको, जिनके माध्यमसे मध्य भारतने श्रद्धाके ये फूल चढ़ाये।

■

आँकड़ों, विवरणों, विश्लेषणों, श्लोकों और अपीलोंसे अम्बार लगा दिये। मैं इस अम्बारको और ऊँचा करनेमें जुटा ही हुआ था कि एक गम्भीर गर्जना कानोंमें पड़ी, "स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है!"

यह लोकमान्य तिलककी आवाज थी। इस गर्जनाकी घोषणा थी कि स्वराज्य पानेके लिए योग्यता सिद्ध करनेकी आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि स्वराज्य योग्यताका पुरस्कार नहीं, हमारा मानवीय अधिकार है। तिलक महाराजकी यह घोषणा सुनकर मेरे खूनमें फिर एक नयी बात पैदा हो गयी थी और मेरी कलममें एक चमक आ गयी थी। इस चमकमें तथ्यों, आँकड़ोंकी जगह तेजी थी, बल था, प्रेरणा थी। कहूँ, ज्ञानकी जगह भावनाने ले ली थी। अब क़लमसे भावना बरसती और जन-मनमें उमड़ उठती, जोश लहरें लेने लगता। इस जोशमें तड़प थी, गुलामीके बन्धनोंकी, बेचैनी थी उन्हें तोड़ डालनेकी और इस तोड़नेमें अपनेको जुटा देनेकी और मिटा देनेकी भी!

मैं सब कुछ करनेको तैयार था, पर वह सब कुछ क्या है, यह न जानता था। मैं चलनेको तैयार था, अपनेमें चलनेकी ताक़त भी महसूस करता था, पर वह राह मेरे सामने न थी, जिसपर चलूँ। गान्धीजीके बोल कानोंमें पड़े, तो वह राह ही मेरे सामने खुल पड़ी। बात यह हुई थी, आपको याद ही होगा कि रौलेट एक्ट गुलामीकी बेड़ियोंको और भी मज़बूत करनेवाला क़ानून था। गान्धीजीने इसका विरोध करनेके लिए ३० मार्च १९१९ को हड़ताल करने, जुलूस निकालने, जलसे करने और उपवास करनेका आदेश दिया था। बादमें यह तारीख बदलकर ६ अप्रैल कर दी गयी, पर ठीक सूचना न मिलनेके कारण दिल्लीमें ३० मार्चको ही हड़ताल हुई, जुलूस निकला और गोली चल गयी। बादमें लाहौर अमृतसरमें भी झपटें हुईं, तो गान्धीजीको दिल्ली बुलाया गया। तभी गान्धीजीने ये बोल कहे थे, जिन्हें सुनकर मेरे खूनमें फिर एक लहर उठी थी और मेरी क़लममें एक नयी दमक पैदा हो गयी थी।

इस इमकमें एक आग थी, जो चाहती थी कि भले ही उसमें मैं भी जल जाऊँ, पर इस गुलामीका जंगल ज़रूर जल जाये। इस आगके कारण मेरे सिरपर डण्डे पड़े, हाथोंमें हथकड़ियाँ कसी गयीं, पैरोंमें बेड़ियाँ ठुकीं और बार-बार जेलके सींखचोंमें मुझे बन्द किया गया, पर मेरी कलम चलती रही, अपना काम करती रही। उसकी दोनों जिह्वाएँ एक हो, देशके काममें जुटी रहीं। मेरी घोषणा थी

> "ज़ुबाँ को बन्द करें या मुझे असीर करें,
> मेरे ख़याल को बेड़ी पिन्हा नहीं सकते!"

देशमें कहावतकी तरह यह बात प्रचलित थी कि अँगरेज़ोंका समर्थक कोई पत्र जीवित नहीं रह सकता और कोई पुस्तक लोकप्रिय नहीं हो सकती। क्यों? क्योंकि मेरी कलमकी दोनों जिह्वाएँ एक हो देशके साथ थीं। यों ही कई साल बीत गये।

ऐं? यह कैसी आवाज़ है? ओह, मालूम होता है कहीं ज्वालामुखी फट पड़ा है — खटाखट, धड़ाम, हाय रे, मारो, बचाओ। कैसा शोर कि उसमें हुँकार भी है, चीत्कार भी है!!

जी, कहीं ज्वालामुखी नहीं फटा, यह तो कोहाट और सहारनपुरके साम्प्रदायिक दंगोंकी आवाज़ थी, जो बादमें चारों ओर फैल गयी। और ये दंगे? ये विदेशी शासककी जादूगरीके चमत्कार थे, जो कांग्रेस और खिलाफ़तकी एकतासे घबरा गया था और अब योजनापूर्वक भेदकी डुगडुगी बजा रहा था! यह डुगडुगी बहुत पुर-असर थी — प्रभावशाली थी — मसजिद और मन्दिर दोनों ही इससे गरम हो उठे थे। उन दिनोंकी हालत एक व्यंग्यचित्र — कार्टून — में दी गयी थी, जो इस तरह था कि भारत-माता बीचमें खड़ी है और उसके बायें हाथ एक मुसलमान और दायें हाथ एक हिन्दू खड़ा है। दोनोंकी आँखपर पट्टी बँधी है और दोनों लाठी चला रहे हैं। हिन्दू सोचता है, मैं मुसलमानको मार रहा हूँ और मुसलमान

सोचता है मैं हिन्दूको मार रहा हूँ, पर असलमें दोनोंकी लाठी पड़ती रहती है भारतमाताके मस्तक पर, सो सिर फूटता है भारतमाताका और यह सब उस जादूगरकी डुगडुगीका असर था।

हैं ? यह क्या ? मेरी कलमकी दोनों जिह्वाओंके बीचमें एक खाली जगह हो गयी है, जिसने उन्हें अलग-अलग कर दिया है। एक दिन मैंने यह देखा तो भौचक रह गया। उसकी जिह्वाएँ ही अलग न हुई थीं, उनके शब्द और स्वर भी बदल गये थे और सच कहूँ आपसे, कलम ही बदल गयी था और उसका भी बड़ा सच यह कि मेरे टुकड़े अलग-अलग हो गये थे, मेरा हृदय बँट गया था और यह सब जादूगरकी उसी डुगडुगीका नतीजा था! यों ही कई साल बीत गये। ज्वालामुखियाँ फटतीं रहीं, पहाड़ हिलते रहे, कलमकी जिह्वाओंके बीचकी खाई चौड़ी होती रही।

ओह, क्या सुहावना मौसम है। नयी महक, नयी चहक, सुन्दर और खूबसूरती चरम पर है। जानते हैं आप यह अचानक क्या बात हुई? नहीं जानते ? यह हमारे राष्ट्रीय इतिहासके सर्वोत्तम वसन्तका उदय है। यह देखिए, गान्धीजी अपने चुने हुए साथियोंके साथ नमक सत्याग्रहके लिए डाण्डीकी ओर जा रहे हैं। देशमें चारों ओर एक नयी सिहरन है, नयी दिलचस्पी है, नयी उमंग है, नये इरादे हैं। मार्च-अप्रैल १९१९ लगता है मार्च-अप्रैल १९३० में जाग उठता है। सब कुछ बदल रहा है और लीजिए, इधर भी तो देखिए, मेरी कलमकी जिह्वाओंके बीचकी खाई एक-दम कम हो गयी है और कमाल यह कि अपने-आप और ४ मार्च १९३१ को देशके नेता गान्धीजी और अंगरेजी हुकूमतके प्रतिनिधि लार्ड इरविनमें समझौता हुआ, तो मुझे लगा कि मेरी कलम फिर ज्योंकी त्यों हो गयी, उसकी दोनों जिह्वाएँ मिलकर एक हो गयी हैं।

यह लो, सुना आपने ? जादूगरकी डुगडुगी फिर बज उठी और कमाल देखिए जादूगरका कि इस बार डुगडुगी भारतमें नहीं बजी, बजी इंग्लैण्डमें,

`क्षण बोले कण मुसकाये`

वहाँ भारतके राजा-जमींदारों, रायबहादुर-खानबहादुरों और दूसरे सरकार-परस्तोंके बीच गान्धीजी भी बैठे थे – गोलमेज कान्फ्रेन्समें, वाह रे जादूगर और वाह री डुगडुगी कि औरोंकी क्या बात, गान्धीजी भी चकरा गये थे – इस अर्थमें कि उसमें उलझनेसे देशके इन लोगोंको न बचा सके और लौट आये। इस दशामें मेरी कलमकी भी दो जिह्वाओंके बीचकी खाई फिर चौड़ी हो गयी, तो क्या आश्चर्य ?

उतार-चढ़ाव आते रहे और यों ही बीत गये कई वर्ष। तब आया तूफान, संसारमें वेगसे, तो देशमें महावेगसे – एक तरफ दूसरा विश्वयुद्ध, तो दूसरी तरफ़ संसारके इतिहासकी सबसे बड़ी क्रान्ति – भारत छोड़ो! इनका चक्र इतना प्रचण्ड कि मेरे लिए कलम हिलाना भी मुश्किल, पर मुश्किलोंमें भी जिसकी क़लम न चले, वह लेखक ही क्या ? कलमकी दोनों जिह्वाओंके बीचकी खाई ज्योंकी त्यों थी, पर एक जिह्वा कष्ट सहकर भी देशके साथ थी, तो दूसरी अपने साम्प्रदायिक रूपको भूल विदेशके साथ थी, पर तूफानके थमते ही १९४५-४६ में उसने जो जहर बरसाया, वह पुराने सब विषोंसे तेज था।

इस विषमें ऐसा दमघोटू धुआँ था कि उसमें देशको बात कौन सुने, देशको साँस लेना ही दूभर था। मदारीकी डुगडुगी अपने पूरे जोरमें थी। इसका एक स्वर उठता कि हिंसा लहरा उठती, दूसरा स्वर उभरता कि अहिंसा।

अखण्ड जीवनकी प्यास देशमें थी, पर जीवनकी राह न थी, गान्धीजी अपने बलिदानकी जो बात कह रहे थे, उसे समर्थन देनेकी ताक़त मेरी कलममें न थी। दोनों जिह्वाओंके बीचकी खाई बेहद चौड़ी हो गयी थी और जहरीली जीभ बेहद तेज़ीसे चारों ओर आग बरसा रही थी। इस आगमें सब कुछ जल जानेका खतरा पैदा हो गया था और देशका जागृत मस्तिष्क उस सब कुछमें-से बहुत कुछको बचानेकी बात सोचने लगा था। यह मेरी ही जीत थी, यह मेरी ही हार थी और इन दोनोंके बीच मैं ऐसा

उलझा था कि निकलना सम्भव न था और बदली दुनियामें मेरे
जीवनका यह पड़ाव एक ऐसे वातावरणमें समाप्त हो रहा था कि न रोना
सम्भव था, न मुसकराना। कुछ हालत यों थी —

"अल्लाह रे, उनका हाले-ज़बूँ अल्लाह रे, ख़ामोशी!
जो दिल में समन्दर रखता हो और आँख में आँसू ला न सके!!"

■

लाल क़िलेकी ऊँची दीवारसे

मसूरीमें आल इण्डिया रेडियोका उस दिन निमन्त्रण मिला तो मैं दुविधामें पड़ गया। निमन्त्रण था १५ अगस्त १९५१ के स्वतन्त्रता-समारोहकी रनिङ् कॅमेण्ट्री — आँखों-देखा हाल — प्रसारित करनेका।

१५ अगस्तको लाल क़िलेके सामने खड़े होना ही एक सौभाग्यकी बात है, फिर यह तो लाल क़िलेपर खड़े होनेका अधिकार-पत्र था, पर इसके महीने गोदमें हो गये हैं और रनिङ् कॅमेण्ट्रीके लिए जिस ताज़गीकी ज़रूरत है वह मुझमें न थी।

श्रीमती विद्यावती कौशलने मेरे मर्मको एक टकोर दी, "आपकी भावनाके अनुसार यह तो राष्ट्रका निमन्त्रण है!" — और मैंने उसे स्वीकार कर लिया। ठीक तो है कि यहाँ इनकारकी गुंजाइश ही कहाँ है?

हिन्दीमें रनिङ् कॅमेण्ट्रीका वास्तविक विकास इन्हीं वर्षोंमें आरम्भ हुआ है। उत्सवोंका 'रिपोर्टिङ्' हमारे दैनिकोंमें रोज़की बात है और बादमें प्रकाशित होनेवाले उनके संस्मरण भी अब दुर्लभ नहीं, पर रनिङ् कॅमेण्ट्री तो क़लम नहीं, वाणीका रिपोर्टिङ् है। इसका उद्देश्य है दूर-दूर बैठे श्रोताओंको घर बैठे ही उत्सवका आनन्द देना। सच यह है कि जनपदके सामयिक जीवनमें रेडियोने ध्वनि-रूपक और आँखों-देखा हाल, इन दो नये व्यंजनोंकी सृष्टि की है जो स्वास्थ्यवर्धक भी है।

१५ अगस्त १९५१: भारतीय स्वतन्त्रताकी पाँचवीं वर्षगाँठ। प्रातः सात बजे मैं दिल्लीके लाल क़िलेकी ऊँची दीवारपर खड़ा था। ऐसे स्थान-पर पहुँच भावुक मन भावनाओंसे भर जाता है। लाल क़िलेकी इस इतनी

नहीं है, पर यह मनमें एक हजार वर्षोंका इतिहास समेटे खड़ा है। क्या नहीं देखा बेचारेने !

मुझे लगा कि मेरी ही तरह यह लाल किला भी आज कुछ सोच रहा है। सहानुभूतिसे मैंने कहा, "क्या सोच रहे हो दुर्गप्रसाद?"

"सोचूँ क्या, तमाशाइयोंकी भीड़में गुम खोया-सा रहा हूँ भाई?" लाल किलेने कहा।

"हाँ, अपने पुराने वैभवको याद कर रहे होगे तुम!" मैंने उसे टटोलकर उसका मर्म छू दिया।

"ना, ना, तुम गलत समझे भाई! यह ठीक है कि मैंने वैभवके दिन देखे हैं। किसी दिन मैं कोमलतम रत्नोंसे जगमग था और आज कोरा पत्थर हूँ, पर उस वैभवके पीछे इतना शोषण रक्तपात था कि वह वैभव मुझे बोझ हो गया था। उसके बाद जो दिन आये, उनकी चर्चा ही फिजूल है। अपने निर्माताओंका नाश ही मैंने नहीं देखा, अपना सर्वनाश भी मैंने देखा, पर पिछले सालोंमें अब कुछ दिनोंसे मैं अमन-चैनकी साँस ले रहा हूँ।"

"क्या नयी बात है आजकल?" मैंने उसे फिर सवालपर चढ़ाया, तो वह बोला, "मैं मनुष्योंका निर्माण हूँ और सदा मनुष्योंके ही साथ रहा हूँ, पर मैंने सदा मनुष्यको मनुष्यका खून पीनेकी तैयारी करते ही देखा है। मेरे द्वारसे सदा जो आदेश दिये गये हैं, उनका सार है : "मारो, काटो और मिटा दो!" इन आदेशोंको सुनते-सुनते मैंने मान लिया था कि इनसान भी एक जंगली खूनी जानवर ही है, पर इधर कुछ दिनसे मेरे दरवाजेपर एक नया झण्डा लगा है। उसमें केसरिया, सफ़ेद और हरी, ये तीन पट्टियाँ हैं और बीचकी पट्टीपर एक चक्रका निशान है।

इस झण्डेकी छायामें अब जो नये सन्देश और आदेश दिये जाते हैं, उनमें प्यार, मुहब्बत और नयी रचनाओंकी बातें होती हैं। कहनेका ढंग भी हुंकार और खा-फाड़का नहीं, आ-बैठका होता है। यह सब सुनकर मैं सोचता हूँ कि एक नयी दुनियामें पहुँच गया हूँ और अब इनसान भी जंगल-

की क्रान्तियोंके विरुद्ध लड़ने पर आ गया है। मुझे लगता है, इन क्रान्तियोंने अब नयी ज़िन्दगी पायी है।"

"लेकिन, सब ठीक है?"

लाल किलेकी बात पूरी हुई ही थी कि मैं और मेरे साथमें पड़े। आल इण्डिया रेडियो, नयी दिल्लीके स्टेशन डायरेक्टर (बादमें डायरेक्टर जनरल) श्री उदयशंकर भट्ट मेरे दूसरे सामने खड़े थे। कुछ लोग होते हैं, जिन्हें मिलकर प्रसन्नता होती है, कुछ लोग हैं जिनसे विचार-विमर्श करके सन्तोष मिलता है, पर श्री भट्टका व्यक्तित्व इतना सरल, सहज और मधुर है कि उन्हें समीप पाकर एक ऐसी सन्तुष्ट प्रसन्नता मिलती है कि सहृदय मनुष्य सब कुछ पाया-सा अनुभव करता है।

भट्टजीकी व्यवस्था-नीति संक्षेपमें यह है कि वे जिसे जो काम सौंपते हैं, उसका पूरा विश्वास करते हैं, पर अपनी सतर्कताको पलभरके लिए भी सोने नहीं देते!

पुष्ठ-कक्ष के दूसरी ओर बढ़े तो मैंने बूथकी खिड़कियोंसे बाहर झाँका। आठ बज रहे थे और कॅमेण्ट्रीका आरम्भ ८-२० से होना था। लाल किलेके सामनेवाले मैदानमें सीधे दर्शक आ रहे थे, पर कुरसियाँ और लॉन अभी खाली हो थे। मनमें एक धक्का-सा लगा — क्या जनतामें स्वतन्त्रता-समारोहके लिए इतना भी उत्साह नहीं है?

प्रोग्राममें ८-१६ पर अपना स्थान ले लेनेकी सूचना थी, पर ८ तो अब बज ही रहे थे। कॅमेण्ट्रीका आरम्भ मेरे साथी श्री देवकीनन्दन पाण्डेको करना था, इसलिए मैं बूथसे बाहर आ गया। लाल किलेके द्वारपर एक सबल स्तम्भके ऊपर राष्ट्रीय झण्डा बँधा था। उसके दायीं ओर विदेशी राजदूतोंके लिए स्थान था और बायीं ओर हमारे मन्त्रियों एवं दूसरे प्रमुख अतिथियोंके लिए।

दूसरे घेरेमें पास-पास दो सुन्दर स्त्रियाँ बैठी थीं। मैं उन्हें देख

आनन्द-विभोर हो गया। एक थी श्रीमती कृष्णा हाथी सिंह और दूसरी सुश्री पद्मजा नायडू। पहली अपने महान् पिताका एक संस्मरण, तो दूसरी अपनी महीयसी माताका। स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल नेहरू और श्रीमती सरोजिनी नायडू हमारे राष्ट्रके गौरव-स्तम्भ ही तो हैं!

अगली पंक्तिमें ये लव-कुश-से दो बालक कौन हैं? ये हैं पण्डित जवाहरलाल नेहरूके धेवते, जो राष्ट्रकी जिम्मेदारियोंके बोझसे दबे अपने महान् नानाको कुछ पलोंके लिए अपनेमें उलझा, प्रतिदिन देशकी मूक सेवा करते रहते हैं

और ये राजदूत! गत चार वर्षोंमें भारतने जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त की है, उसके जीवित प्रमाणपत्र-से और इन्हींके बीच सुरक्षा-परिषद्‌के निर्वाचित, पर भारत-द्वारा अमान्य कश्मीर-निर्णयके प्रतिनिधि श्री ग्राहम; शालीनताके बुरकेमें छिपा धूर्तताके अग्रदूत, ऊपरसे प्रसन्न, पर नेहरू और शेखके अकम्प निर्णयोंसे भीतर-ही-भीतर प्रकम्पमान!

और इन सबके बीच स्थिर तिरंगा झण्डा; मैं सम्मानकी भावनामें भीगा-भीगा-सा उसे देख रहा हूँ और मुझे लगता है वह भी मुझे देख रहा है। भाव-विभोर हो मैंने कहा, "क्या सोच रहे हो हमारे महान् राष्ट्रध्वज?"

अपनी इन्द्रधनुषी मुसकानमें उसने कहा, "विश्वमें दूर-दूर फैले भारतके राजदूत-भवनोंपर लगे उन तिरंगोंको देख रहा हूँ, जो मेरे साथ ही फहरानेवाले हैं और सोच रहा हूँ कि यदि उन सबका एक मानचित्र बनाया जाये, तो वह पारिभाषिक रूपमें ही नहीं, यथार्थमें भारतकी आत्माका अद्भुत मान-चित्र होगा।

बैण्डकी मधुर ध्वनि कानोंमें पड़ी, तो मैं भावनाके उपवनसे यथार्थके चौराहेपर आ टिका। ओह! इन्हीं कुछ मिनिटोंमें सारा दृश्य बदल गया था।

सिंहद्वारके सामने जल, स्थल और नभसेनाकी टुकड़ियोंके साथ पुलिसकी भी एक टुकड़ी अपना स्थान लिये सावधान खड़ी थी। उनके पीछेके चार लॉन राष्ट्रके नर-नारियोंसे भरे थे। उनके पास पाँच मार्गोंमें बटी कुरसियोंपर पार्लामेण्टके सदस्य, सैनिक अधिकारी, राजकर्मचारी और प्रमुख कांग्रेसजन विराजमान थे। कुरसियोंके पीछेका बड़ा लॉन भी जनतासे भरा था। कुरसियोंके पासका बड़ा लॉन स्त्रियोंके लिए सुरक्षित था, पर उसमें भी स्थान खाली देख पुरुष घुस आये थे। इसके पासके बड़े-बड़े लॉन भी खचाखच जनतासे भरे थे। इस विशाल महा-प्रांगणके अतिरिक्त आस-पासके सब मकान, छज्जे, छतें और वृक्ष भी मनुष्योंसे भरे हुए थे।

मैंने पिछले किसी स्वतन्त्रता-समारोहमें इतनी भीड़ नहीं देखी थी! हमारे देशमें भीड़का साथी है — धम्मड़, पर आजकी भीड़ अपने पुराने साथी धम्मड़को कहीं राहमें ही छोड़ आयी थी। सब अपने-अपने स्थानपर चुपे-मिचे बैठे थे, पर न हल्ला था, न धक्कम-धक्का।

हम इस शान्ति और स्वेच्छा-व्यवस्थाका पूरा मूल्यांकन नहीं कर सकते, यदि यह न जान लें कि १४ अगस्तको जमकर पानी पड़ चुका था। इस समय आकाश खुला था, कड़ी धूप और घोर उमससे वातावरण इतना गरम था कि लोग पिघले जा रहे थे। झण्डोंकी वन्दनवारें लटकी हुई थीं, पर हवाका कहीं नाम न था और किसी झण्डेका कोना तक न हिल रहा था। सब कुछ ऐसे खड़े थे कि वे जैसे वृक्षोंके स्टैच्यू हों।

यह स्तब्ध जन-सागर अचानक क्यों लहरा उठा? ये दस-बारह लाख आँखें; एक आँखकी तरह किसे ताक रही हैं? शान्त बैठे नर-नारी उचक क्यों चले? और यह सारा आकाश तालियोंकी गड़गड़ाहटसे गूँज क्यों उठा?

वे चले आ रहे हैं भारतके राष्ट्रीय कर्णधार पण्डित जवाहरलाल नेहरू — हमारे सितारे भी, सहारे भी! उनके साथ रक्षामन्त्री या सरदार बल-

देव सिंह और पीछे जल, स्थल, नभसेनाओंके प्रधान सेनापति और दो अंग-रक्षक !

वे सैनिक टुकड़ियोंके सामने बने लाल मंचपर आ खड़े हुए। यह साढ़े आठ बजे हैं। सैनिकोंने उनका सम्मिलित अभिनन्दन किया कि बैण्डके जड कण्ठमें 'जन-मन-गण' के जीवित स्वर फूट पड़े और मैं देख रहा हूँ कि वे लाखों नर-नारी एक झटकेके साथ खड़े हो गये हैं। सधे स्वर उभर रहे हैं और प्रधान मन्त्री उस अभिनन्दनको अपने प्रतिवन्दनसे ग्रहण कर रहे हैं।

यह क्षात्र तेजका ब्रह्मतेजके प्रति आत्मसमर्पण है या आजकी भाषामें राष्ट्रकी देहशक्ति-द्वारा नैतिक शक्तिका अभिनन्दन !

मैं अब 'बूथ' में हूँ और माइक मेरे सामने है। तीन ओरके शीशोंसे सारा मैदान मुझे साफ दिखाई दे रहा है।

परेड तैयार है, प्रधान मन्त्री उसका निरीक्षण कर रहे हैं। मेरी आँखोंमें दर्शन है, मानसमें चिन्तन : इन दोनोंको भाषामें समेटकर मैंने अपनी कॅमेण्ट्रीमें कहा, "एक अद्‌भुत दृश्य है यहाँ इस समय। इस दृश्यमें एक ओर हैं हमारे प्रधान मन्त्री – १८५७ से १९४७ तकके वर्चस्वी अतीतमें स्वतन्त्रताकी स्थापनाके लिए किये गये महान् बलिदानोंके प्रतिनिधि और दूसरी ओर है हमारे सैनिक – १९४७ से आरम्भ कर जाने कबतक फैले भविष्यमें उस स्थापित स्वतन्त्रताकी रक्षाके लिए होनेवाले बलिदानोंके प्रतिनिधि। इस तरह यह अतीतसे भविष्य तककी एक ऐसी सजीव शृंखला जिसे आँखों देखना और कानों सुनना स्वयं अपनेमें जीवनका एक पवित्र त्यौहार है !"

परेडका निरीक्षण कर प्रधान मन्त्री लाल किलेके द्वारपर चढ़ आये, जैसे अतीतकी सीढ़ियोंसे चढ़कर वर्त्तमान ऊपर आ जाता है।

प्यार और मानकी आँखोंसे प्रधान मन्त्रीने एक बार झण्डेकी ओर देखा और उसे फहरा दिया। तभी एक दैवी घटना हुई कि एकदम हवा

सरसरा उठी और झण्डा फहराने लगा। मुझे पिछले सालकी वह घटना याद हो आयी कि अपने भाषणमें प्रधान मन्त्रीने ज्यों ही शरणार्थी बन्धुओंके दुखोंका वर्णन किया, वहतो हवा एकदम रुक गयी थी और लहराता झण्डा लटककर दुखिया-सा अपनी बल्लीको लिपट गया था।

तभी प्रधान मन्त्री नयी दिशामें आये, "पर इन दुखोंका यह मतलब नहीं कि हम इनसे हार मान लें! नहीं, हम इनसे लड़ेंगे और इन्हें खत्म करके ही चैन लेंगे!"

बस फिर क्या था, प्रधान मन्त्रीका उत्साह जैसे सारी प्रकृतिमें भर गया, हवा पूरी तेज़ीसे वह चली और झण्डा बल्लीसे ऊपर अपने-आप पूरे वेगमें फहरा उठा था।

प्रकृतिका यह प्रत्यक्ष सन्देश देश-विदेशमें दूर-दूर बैठे रेडियो-श्रोताओं-को भेज मेरी कॅमेण्ट्री धन्य हो गयी।

अब फिर एक अद्भुत दृश्य है। ऊपर झण्डा फहरा रहा है। लाल किलेकी लालिमा सारे वातावरणमें छायी हुई है और उसके द्वारपर खड़े हैं धवल वेशधारी, गौरवर्ण श्री जवाहरलाल नेहरू; जैसे सूनी दुनियामें फहराती शान्तिपताका!

हमारे प्रधान मन्त्री तन, मन और वेष, तीनोंमें धवल, पर उनके हृदय-देशपर लगी गुलाबकी कली लाल, जैसे मोती सिहकी आँखोंमें हँसता का एक हीरा!

यह दृश्य भी रेडियोके माध्यमसे देशकी जनताको भेंट कर दिया गया। प्रधान मन्त्री सैंतीस मिनिट बोले। यह हिटलर-स्तालिनका नहीं, राजर्षि जनकका भाषण था। मुक्केके जवाबमें दोस्तीका हाथ बढ़ानेके लिए जिस महान मानसिक सन्तुलनकी आवश्यकता होती है, उसका यह भाषण सम्पूर्ण प्रतिनिधि था! मेरा विश्वास है कि इस भाषणका अभि-नन्दन हमारा भावी इतिहास करेगा।

हम इसका पूरा मूल्यांकन कर ही नहीं सकते, यदि यह न जान लें कि इस सन्तुलनको खराब करनेके लिए पाकिस्तानका प्रधान मन्त्री १४ अगस्तको डेढ़ घण्टे तक अपने रेडियोपर पागल कुत्तेकी तरह भौंका था! मैंने सोचा, राजनीतिज्ञ जवाहरलालके भीतर पिछले वर्षोंमें जो सन्त निरन्तर पनपता रहा है, वही आज बोल रहा है!

अब मेरे पास केवल दो मिनिट थे। पिछले चार वर्षोंका मानसिक अध्ययन थोड़े शब्दोंमें उँड़ेलकर मैंने अपनी कॅमेण्ट्री यों समाप्त की :

"पहली बार जब हम यहाँ स्वतन्त्रता-समारोह मनानेको इकट्ठे हुए थे, लोगोंकी आँखोंमें गहरी उदासी छायी हुई थी, दूसरी बार उन आँखोंमें गहरी बेचैनी थी, तीसरी बार अनन्त प्रश्न थे और चौथी बार सान्त्वना थी, पर इस बार अखण्ड विश्वास है।

आज इस महापर्वके वातावरणमें जीवनके जो स्वर गूँज रहे हैं, उन्हें हम शब्दोंमें कहना चाहें, तो यों कह सकेंगे।

"महत् देश की पुण्य पताका!
हम सब तुमको अपनायेंगे, तजकर सुख वसुधा का!!
जिसने तुझको एक बार भी दुष्ट दृष्टि से ताका!
हम उसका सुख भस्म करेंगे, बनकर दीप-शलाका!!"

जवाहरलालजी आज शरीरमें ढीले थे—उनका सदाका चुस्त अचकन ढीला हो रहा था। देखकर चोट लगी कि कामके बोझों और मनकी चोटोंसे हम उन्हें थकाये दे रहे हैं।

वे राजदूतोंसे मिले और भीड़की ओर भाव-भरी आँखोंसे देखते रहे। अचानक वे झपटेसे चल पड़े और तेजीसे सीढ़ियाँ लाँघकर बच्चोंकी तरह काफी ऊँचाईसे कूद पड़े। रक्षामन्त्री इस तेजीमें पिछड़ गये और तब उन्हें भी दूसरी ओरसे रस्सीके सहारे उचककर उन तक पहुँचना पड़ा। परिस्थि

नेहरू इस उत्तरपर खिलखिलाकर हँस पड़े और यों आजका गम्भीर स्वतन्त्रता-समारोह हास्यकी सरसतामें स्नान कर पूर्ण हुआ।

मैंने अपनेसे कहा, देश निश्चित रूपसे आगे बढ़ रहा है और उसका भविष्य उज्ज्वल है।

ऊपरकी बर्थपर

दिल्लीसे इलाहाबाद तकका सफर, हवासे बातें करती तूफान मेल, बाहर अँधेरी रात और भीतर बिजली घुप्प ! मैं सेकेण्ड क्लासमें ऊपरकी बर्थपर, मेरे सामनेकी बर्थपर सामान और नीचे दो बर्थोंपर दो छैल-छबीले तरुण। उनकी निगाहमें मैं सो गया हूँ, पर मैं हूँ कि जाग रहा हूँ। वे दोनों रस-भरी बातोंमें निमग्न; जिनमें कभी मेरा ध्यान चला जाता है और कभी उखड़ जाता है। सहसा बात एक खास मसलेपर आ टिकी और मेरी पत्रकार-कला जागकर सतर्क हो उठी।

"रमेश ! चमेली पहले तो बड़ी भगतनी बनती थी, पर अब तो एकदम परी बनी फिरती है। अब भी वह 'पूजा-बरत' कुछ करती है या नहीं ?"

उत्तर मिला, "पूजा तो अब भी करती है, मगर ठाकुरजीकी नहीं, इंजानिबकी। सच यह है शर्मा ! बड़ी गजबकी औरत है।"

"रमेश ! तू भी है किस्मतका सिकन्दर; खूब काँटा डाला है यार तूने !"

"काँटा-वाँटा क्या, बस तीर बैठ ही गया ? पूरा एक साल लगा मेरा। बात यह है, जबसे चमेली विधवा हुई, एक समय यह खाना खाती और दिन-रात राधे-गोविन्दमें लीन रहा करती थी। सच कहता हूँ शर्मा! इसे रास्तेपर लाना मेरा ही काम था !"

ऊपरकी बर्थपर मन-ही-मन मैंने कहा, खूब रास्तेपर लाये हैं आप उसे पर मैं साँस रोके सुनता रहा, क्योंकि मैं चाहता था कि इनके रास्ते-पर लानेका उपाय भी सुन सकूँ, तो ठीक रहे। मेरे भाग्यसे शर्माके लिए

भी यह जानना अभी शेष था। तभी उसने पूछा, "आखिर तूने ऐसा क्या मन्त्र मारा कि तू ही उसका राधे-गोविन्द हो गया?"

रमेश अब खुल पड़ा। बोला, "शर्मा, छह महीने तो मैं उसके पीछे यों ही लगा रहा, पर उसकी जिन्दगीमें कहीं हाथ रखनेको जगह ही न मिली। कई बार इशारे किये, चटखारे भरे, पर उसके लिए जैसे उनका कोई मतलब ही न था। मैं मस्तीमें भरा उसके घर जाता और निराशामें डूबा लौटता। एक दिन अचानक उम्मीदकी किरन फूट पड़ी। चमेलीने उनको चैतन्य महाप्रभुका जीवन-चरित्र पढ़ना शुरू किया कि उसकी आँखें दुखनी आ गयीं। उसने मुझसे कहा कि थोड़ी देर उसको पुस्तक मैं सुना दिया करूँ। मैं सुनाने लगा। पहले ही दिन एक बात मैंने देखी कि चमेली बड़ी भावुक है और कथामें आये प्रसंग उसके मनपर अपने रसके अनुसार प्रभाव डालते हैं। बस कुंजी मेरे हाथ लग गयी।

मेरे पढ़नेका ढंग इतना अच्छा था कि आँखें ठीक होनेपर भी वह पढ़ता ही रहा और मैं धीरे-धीरे उसे कथासे कहानीपर ले आया। पहले तो मैंने उसे छाँट-छाँटकर शिक्षाप्रद कहानियाँ ही सुनायीं और तब उसे धीरेसे एक पैड़ी और उतारकर प्रेमकी कहानियोंपर ले आया। मैं बराबर सोचता रहता था कि कहानियोंमें जब उत्तेजक प्रसंग आते थे, तो चमेली विह्वल हो जाती थी।

अब मेरी सफलता निश्चित थी और सिर्फ़ मौकेकी तलाशमें था। एक दिन मैं उसे गज़बकी कहानी सुना रहा था। उसमें ज्यों ही यह प्रसंग आया कि प्रेमिका प्रेमीकी गोदमें लुढ़क गयी, क़िस्मतकी बात बिजली गुल हुई। मौकेको चूकना बेवकूफ़ी है। मैंने फ़ौरन हाथ बढ़ाया और शर्मा, सच कहता हूँ स्वर्ग मेरी मुट्ठीमें था। मैं चमेलीकी भावुकताको जानता था, इसलिए पहले ही झटकेमें मैंने उसे वहाँतक पहुँचा दिया, जहाँसे लौटना औरतके लिए मुमकिन नहीं है।"

शर्मा जैसे उछल पड़ा, "शाबाश! पत्थरपर जोंक लगा दी है यार तूने?"

रमेशने कहा, "शर्मा, इस मामलेमें कहानीसे बढकर कोई हथियार ईजाद हो नहीं हुआ! ये कहानी लिखनेवाले कम्बख्त ऐसी तसवीरें खींचते हैं कि पढ़कर कलेजा बे-क़ाबू हो जाता है। मैं तो दोस्त, अब उन्हें अपना पीर मानने लगा हूँ।"

हमारे लेखक और सम्पादक मिलकर हमारी तरुण पीढ़ीकी जड़ोंमें जो मट्ठा सींच रहे हैं, उसका तीखापन मैंने आज अनुभव किया। ये जो बुकस्टालोंपर रंगीन और नंगे सौन्दर्यके पत्र बिखरे पड़े हैं और जो आज हमारे नवयुवकों और नवयुवतियोंके जीवन-प्राण बने हुए हैं; असलमें *साहित्य न होकर साहित्य-सर्प हैं, यह आज जितना साफ़ मैं देख पाया,* उतना साफ पहले कभी न देख पाया था।

पल-भरमें मैं यह सब सोच गया और अपने विचारोंमें दूर तक बहने-को ही था कि मेरे कानोंमें शर्माकी आवाज पड़ी, "रमेश, कहानी काम-की चीज है, यह तो तुम्हारे तजर्बेसे ही जाहिर है, पर यार, यह ग़लत है कि कहानीसे बढकर कोई काँटा ईजाद ही नहीं हुआ!"

"तुम्हारा मतलब शायद रुपयेसे है, पर शर्मा, हिन्दुस्तानमें अब भी लाखों औरतें ऐसी हैं, जो जिन्दगी-भर सोनेकी बारिश करनेपर भी चारो-पर नहीं चढतीं।" यह रमेशकी बोली थी।

"रुपयेपर लानत भेजो जी! मेरा मतलब सिनेमासे है। मेरा इस सालका तजर्बा है रमेश, कि सिनेमासे 'इजी एप्रोच' और कुछ नहीं है। दस दिन देखाभाली और ग्यारहवें दिन सिनेमा—बस चट रोटी, पट दाल! अचूक नुसखा है रमेश!"

रमेशकी आवाज़ नहीं निकली। वह या तो झपकी ले रहा था और या फिर कुछ सोच रहा था। तब शर्माने पूरी दृढ़तासे कहा, "तुम्हें मेरी

कारण समझमें नहीं आता रमेश ? मैं सच कहता हूँ सिनेमा वह देवता है, जो कभी दर्शन देनेमें नहीं चूकता। लो आओ, तुम्हें इसकी गहराईमें उतारें और बताएँ क्या है, मुन्दका गुना पता है। सिनेमामें और है ही क्या, सिवाय उसके जो हमारे दिलमें चल रहा होता है। परदेकी तसवीरें कहती हैं कि मुझमें यों भटका है, और बादमें उसका अन्त यह होता है। बस, रास्ता साफ हो जाता है और तिलस्म खुल जाती है और एक ही झटकेमें पहुँचे गंगाके पार ! यह दवा इतनी रामबाण है रमेश, कि मैं सिनेमाहॉलसे एक बार भी मायूस होकर नहीं लौटा !"

रमेश अब भी चुप था। वह शायद सो गया था। शर्माके करवट लेनेकी सरसराहट मैंने सुनी और तब यह आवाज – "हे मेरे अल्लाह, अब कोई नयी मुर्गी मिला।" यही शायद उसकी ईश्वर-प्रार्थना थी।

नीचेकी बर्थोंपर ये दोनों सो रहे थे और ऊपर मैं सोच रहा था कि जो सिनेमा दूसरे देशोंमें जीवन-निर्माणका एक मजबूत साधन है वही हमारे यहाँ जीवनके मन्दिरोंपर विस्फोट बनकर गिर रहा है।

आज भी जब उस रातका ध्यान करता हूँ, तो मेरी आँखोंमें आ जाते हैं, वे कुछ घण्टोंके साथी – रमेश और शर्मा, दोनों एक-दूसरेसे बढ़कर हरामज़ादे ! फिर भी मुझपर उनका ऋण है और मानता हूँ कि मैंने उनसे दो क़ीमती सबक़ लिये !

■

लाल मन्दिरकी छायामें

बीसवीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध जिन दिनों बीत रहा था भारतकी राजधानीमें मैंने एक दृश्य देखा और वह दृश्य मेरे लिए एक प्रश्न-चिह्न बन गया। कागजपर बने प्रश्न-चिह्नोंकी उपेक्षा करना सरल है, पर जो प्रश्न-चिह्न कागजपर नहीं, कलेजेपर लिखे जाते हैं, वे रात और दिन पुकार-पुकारकर अपना समाधान माँगते रहते हैं। यह माँग इतनी प्रबल और प्रचण्ड होती है कि उसे सुनना ही पड़ता है। भारतकी राजधानीमें बना यह प्रश्न-चिह्न भी कागजपर नहीं, कलेजेपर है और मैं विवश हूँ कि उसका समाधान खोजूँ। यह खोज; जो मुझे पूरी तृप्ति दे और दूसरोंको भी शायद विचारका निमन्त्रण!

"साहू श्रेयान्सप्रसादजीके सभापतित्वमें अखिल भारतीय दिगम्बर जैन-परिषद्का वार्षिक अधिवेशन दिल्लीमें हो रहा है।" यह समाचार पढ़ा, तो मुझे एक ताजगी-सी मिली और बाक़ायदा निमन्त्रण आनेसे पहले ही मैंने उसमें जानेकी मन्त्रणा अपने मनमें कर ली! श्रेयान्सप्रसादजी इस सूखे और सौदेबाजीके युगमें भी इतने सहृदय हैं कि उनका साथ एक सुन्दर देशकी यात्राकी तरह सुखद है। साहू शान्तिप्रसादजीकी मनुष्यताके तो मैं इतने रूपोंमें स्पर्श पा चुका हूँ कि उनकी याद आते ही मैं भीतर तक मीठा-मीठा हो जाता हूँ। अयोध्याप्रसादजी गोयलीयकी वाणीका निर्माण काँटेकी अगली नोकसे हुआ है तो हृदयका धानकी पहली कोंपलसे। व्यवस्था और शिष्टाचारके आचार्य श्री राजेन्द्रकुमार जैन, उद्योगमूर्ति श्री तनसुखरायजी और यह, वह, ये, वे सब साथी मिलेंगे वहाँ!

ठीक है, पुराने और सहृदय-विचार-बन्धुओंका मिलन जीवनका बड़ा

मुख है, पर क्या परिषद्में जानेका आकर्षण मेरे लिए इतना ही है कि वहाँ कुछ मित्रोंसे मिलनेका अवसर मिलेगा? मैं भला कैसे इसपर हाँ कह सकता हूँ?

परिषद्के प्रति मेरे आकर्षणकी नींव बहुत गहरी है। मैंने अपने देशके इतिहासको एक नये ढंगपर पढ़ा है। पढ़ा तो वैसे ही है, पर उसकी व्याख्या मेरे मनमें एक नये रूपमें प्रस्फुटित हुई है। मुझे लगता है कि आर्य और अनार्य जातियोंकी संस्कृतिका जो संघर्ष वेद कालसे भी पहलेसे चल रहा था, उसमें आर्य जातिकी अन्तिम विजयका श्रेय रामको मिला और उसने ही इस देशमें समाज-व्यवस्थाकी पहली बार पूर्ण स्थापना की। यों समझिए कि इस समाज-व्यवस्थाके शास्त्रीय निर्माता थे मनु और सामाजिक निर्माता राम; बिलकुल उसी तरह, जैसे समाजवादी समाज-व्यवस्थाके शास्त्रीय निर्माता थे मार्क्स और सामाजिक निर्माता लेनिन। इस समाज-व्यवस्थामें हमारे देशका पूर्ण विकास हुआ और वह विश्वका सिरमौर बन गया। जाने कितने वर्षों तक यह व्यवस्था यों ही चलती रही, पर जिस दिन तप-तेज-हीन ब्राह्मणने भी अपनेको पूजाका अधिकारी, रक्षक-शक्तिहीन क्षत्रियने भी अपनेको अधिकारका पात्र, बुद्धि-दारिद्र्य-शक्तिहीन वैश्यने भी अपनेको अर्थपति होनेके लिए प्रमाणित और इन तीनोंने सेवा-शक्ति-सम्पन्न कर्मकारको एक सहयोगीके स्थानमें अधिकारहीन वर्ग माननेकी घोषणा की, उसी दिन यह समाज-व्यवस्था खण्डित हो गयी।

यह समाज-व्यवस्था खण्डित हो गयी, पर उखड़ी नहीं — उसमें जीवनके कुछ ऐसे ही सजीवन गुण थे — हाँ उसकी दरारोंमें जहाँ जीवन-जलका प्रवाह रुक गया था, दुर्गन्ध बढ़ती रही। इसी दुर्गन्धका फल वह महामारी था, जिसे हम महाभारत कहते हैं। कृष्णने इस बिखरनको अपने कार्यकी शक्तिसे नहीं, अपने व्यक्तित्वकी महाशक्तिसे एक बार समेट दिया। इस समेटसे जीवनकी नदी जोरसे नहीं बही, हाँ, दुर्गन्धका झोंका जरा धीमा पड़ गया, पर यह कोई स्थायी काम तो न था! फिर

भी कोई ढाई हजार वर्षों तक इसका प्रभाव रहा और तब फिर दरा
दुर्गन्ध भयानक हो उठी।

भारत-भूमिकी उर्वरा शक्तिकी शतशत जय! उसने एक सा
महापुरुषोंको जन्म दिया। इसमें पहला बुद्ध, दूसरा महावीर! दोनोंने
दुर्गन्धके विरुद्ध विद्रोहकी घोषणा की, पर दोनोंकी दिशा एक होक
शैली भिन्न – बुद्ध घोर क्रान्तिकारी, महावीर समन्वयवादी!

बुद्धने कहा, "हिंसा वर्जनीय है।"

कहा गया कि हिंसा तो यज्ञोंका एक आवश्यक अंग है।

बुद्धने कहा, "मैं यज्ञोंको नहीं मानता!"

कहा गया कि यज्ञोंका विधान तो वेदोंमें है।

बुद्धने कहा, "मैं वेदोंको नहीं मानता!"

कहा गया कि वेद तो ईश्वरकी वाणी है।

बुद्धने कहा, "मैं तुम्हारे ईश्वरको भी नहीं मानता!"

यह एक क्रान्तिकारीका दृष्टिकोण है, जिसका स्वरूप यह है कि
यहाँसे हटो, यहाँ अब मैं ही रहूँगा – उठो, भागो!

महावीर यहाँतक नहीं गये। उन्होंने शायद कृष्णकी विचार-दिश
समझ लिया और अनेकान्तवादके रूपमें एक समन्वयकी धारा बहाय
उनकी कार्य-दिशाका स्वरूप यह है: "हाँ हाँ, जहाँ खड़े होकर तुम
रहे हो, जीवनका वही रूप दिखाई देता है, जो तुम कह रहे हो,
देखनेकी एकमात्र जगह वही तो नहीं है जहाँ तुम खड़े हो। लो, अ
मेरे पास और यहाँसे देखो कि तुम जो वहाँसे देख रहे हो जीवनका
सत्य नहीं है!"

दोनों महापुरुषोंमें मतभेद नहीं है, दोनोंके कार्योंने एक-दूसरेको
ही दिया। हाँ, यह ठीक है कि बुद्धको बहुत सफलता मिली – क्रा
हमेशा तीव्रगामी होती है और सुधार मन्दगामी, पर यह भी तो सत्य
कि बुद्धका कार्य भारतसे उनके पीछे-पीछे ही इस तरह चला गया

हिटलर और मुसोलिनीका कार्य उनके पीछे-पीछे चला गया और महावीर-का कार्य उनके पीछे भी कार्य करता रहा जैसे कमालपाशाका कार्य उनके बाद भी!

संक्षेपमें बुद्ध और महावीर, हमारी समाज-व्यवस्थाके प्रथम विद्रोही और २६ जनवरी १९५० को जिस नयी समाज-व्यवस्थाकी वैधानिक घोषणा हुई उसके आदि प्रवर्तक। नवीन समाज-व्यवस्था, जिसके महान् शिल्पी हैं महात्मा गान्धी, सही अर्थोंमें राष्ट्रपिता, जो क्रान्तिकारी दृष्टि-कोणमें बुद्धके और कार्य-दिशामें महावीरके निकट हैं।

आजका जैन धर्म महावीरकी वसीयत है और जैन समाज इस वसीयतका मूढ़ संरक्षक — मूढ़; क्योंकि समाजकी जिन कुरूपताओंके विरुद्ध महावीरने युद्ध-घोषणा की थी, उनसे पूरी तरह घिरा हुआ। संक्षेपमें ये कुरूपताएँ हैं कट्टरता और विषमता! दिगम्बर जैन-परिषद्की घोषणा इन दोनोंके विरुद्ध लड़नेकी है और नवीन समाज-व्यवस्थाके एक मामूली स्वयंसेवकके रूपमें यही परिषद्से मेरा रिश्ता है।

एक आकर्षण और भी — युगने महावीरकी वसीयतके मूढ़ संरक्षक इस समाजको आज एक तेज कसौटीपर रख दिया है और वह इस तरह कि भारतके नये विधानने जाति, लिंग, स्थिति और वर्णसे ऊपर उठ मनुष्यमात्रकी समानता — समान सामाजिक अधिकारों — की घोषणा की है। महावीर स्वामीकी उन्मुक्त आत्मा इस घोषणाको अनुभव कर सन्तुष्ट हुई होगी और उसने सोचा होगा कि ओह, मेरी भावना ढाई हजार वर्षों बाद आज फलवती हुई। जैन समाज महावीरको भगवान् कहकर पूजता है। उसके लिए शोभा तो यह होती कि यह घोषणा उसके ही प्रयत्नोंके फलसे प्रस्तुत हो, पर यह नहीं तो यह तो होना ही चाहिए कि उसे इससे एक नये गौरवका अनुभव हो।

क्या यह हो रहा है? जड़ कलमको भी हिरहिराहट है, यह कहते

भी कोई ढाई हजार वर्षों तक इसका प्रभाव रहा और तब फिर दरा
दुर्गन्ध भयानक हो उठी ।

भारत-भूमिकी उर्वरा शक्तिको शतशत जय ! उसने एक सा
महापुरुषोंको जन्म दिया । इसमें पहला बुद्ध, दूसरा महावीर ! दोनों
दुर्गन्धके विरुद्ध विद्रोहकी घोषणा की, पर दोनोंकी दिशा एक होत
शैली भिन्न – बुद्ध घोर क्रान्तिकारी, महावीर समन्वयवादी !

बुद्धने कहा, "हिंसा वर्जनीय है ।"

कहा गया कि हिंसा तो यज्ञोंका एक आवश्यक अंग है ।

बुद्धने कहा, "मैं यज्ञोंको नहीं मानता !"

कहा गया कि यज्ञोंका विधान तो वेदोंमें है ।

बुद्धने कहा, "मैं वेदोंको नहीं मानता !"

कहा गया कि वेद तो ईश्वरकी वाणी है ।

बुद्धने कहा, "मैं तुम्हारे ईश्वरको भी नहीं मानता !"

यह एक क्रान्तिकारीका दृष्टिकोण है, जिसका स्वर
यहाँसे हटो, यहाँ अब मैं ही रहूँगा – उठो, भागो !

है। आजकल जिन कलाओंमें मनुष्य पद पाते हैं, वे उनमें सर्वथा शून्य होकर भी आज जो केन्द्रीय मन्त्रि-मण्डलके सदस्य हैं, वह उनकी विश्व-मनोयताका ही फल है। परिषद्ने उन्हें उद्घाटक चुनकर अपनी मानसिक स्वस्थताका जो प्रमाण-पत्र दिया, उसके लिए वह बधाईकी पात्र है।

वहीं दिखाई दिये मध्य भारतके उद्योग-प्राप्ति मन्त्री माननीय श्री श्यामलालजी पाण्डवीय। आकृतिमें सीधे, तो प्रकृतिमें सादे। बातचीत हुई तो जाना कि सरस भी, सहृदय भी। मैंने पत्रकारकी पैनी आँखोंसे उन्हें देखा – दूर-दूर भी कहीं राज्यके मन्त्री होनेका दर्प या दम्भ मुझे दिखाई न दिया। वे सबके बीचमें इस तरह थे, जैसे वे जो कुछ, जितना कुछ यहाँ हैं; उससे बाहर और कुछ नहीं। उनसे मिलना भले ही मुश्किल हो, पर मिलकर उन्हें पा लेना मुझे आसान लगा। सचाई यह है कि वे श्रेष्ठ मनुष्य हैं और उनसे मिलना मानवताके एक नम्र सेवकका उत्साह देना है।

ऋषभदास राँकाका नाम बहुत बार सुना था, पर सुननेमें जो बीज था, वह मिलनेमें वट-वृक्ष हो गया, जिसकी छायामें शीतलता और विश्राम दोनों मिलते हैं। जीवनमें सात्त्विकता, विचारोंमें स्पष्टता और कार्योंमें कर्मठता यह त्रिवेणी ही श्री राँका हैं। राँकाजीमें एक ऐसा बाँकपन है कि उनसे मिलकर मनुष्य अपनी यात्रा-कष्टोंके दीपकका दिविदेण्ड तुरन्त पा जाता है।

एक और आदमीका मुझपर असर पड़ा। वे बोलते कम थे, करते ज्यादा थे। मैंने अनुभव किया कि व्यवस्थाके हर कोनेपर उनकी आँख थी। वे स्वागत-मन्त्री श्री नन्हेंदास थे। स्वागत-समितिकी व्यवस्था सुन्दर थी, सुसंगठित थी, पर यह कोई खास बात न थी; क्योंकि स्वागताध्यक्ष थे राजेन्द्रकुमार 'डायरेक्टर' में ही नहीं, 'ऐक्शन' में भी पटु हैं। वे काम करना भी जानते हैं, काम कराना भी!

किया। जैन समाजके प्रमुख मुनि चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य श्री पूज्य-शान्ति-सागरजी महाराज तो वर्षोंसे अन्नका त्याग किये हुए हैं कि हरिजनोंको जैन मन्दिरोंके भीतर प्रवेशका अधिकार न मिले। जैन समाजमें उनके प्रति श्रद्धा है और उनके अन्न-त्यागसे पीड़ा भी। फलस्वरूप जगह-जगह हरिजन मन्दिर-प्रवेश-विधेयका विरोध हुआ है। जैन समाजके सर्वोत्तम सन्त पूज्य प्रवर श्री गणेशप्रसादजी वर्णीने, गौरवकी बात है कि, मन्दिर-प्रवेश-विधेयका समर्थन किया है और दूसरे अनेक विद्वानोंने भी, फिर भी विरोध अनोखा उग्र है और परिषद्को इसपर अपना मत देना था। परिषद्के मुजफ्फर-नगर अधिवेशनमें गत वर्ष इस सम्बन्धमें जो प्रस्ताव पास हुआ था, वह न्यायवादी है। उसमें कहा गया है कि सरकार इस सम्बन्धमें जो कार्यवाही करे, उसमें जैन समाजके नेताओंसे भी सलाह ले, क्योंकि जैन मन्दिरोंकी पूजाविधि अपने ढंगकी है।

मेरी जिज्ञासा थी कि परिषद्का प्रस्ताव इस वर्ष किस सीमा तक जाता है, क्योंकि यह प्रस्ताव मेरी सम्मतिमें जैन समाजके जागृत मानसका मापदण्ड होगा। इस दृष्टिसे जब मैं दिल्लीके परिषद्-अधिवेशनमें गया, तो मैं एक उत्सवमें ही नहीं गया, जहाँ मेरे पुराने विचार-बन्धु मुझे मिलेंगे, सामाजिक प्रगतिकी एक अध्ययन-शालामें भी गया, जहाँ मैं देख सकूँ। हम किधर-कितना बढ़ रहे हैं।

मण्डप शानदार था, बैठने-बैठानेकी व्यवस्था सुन्दर थी। स्वागताध्यक्ष और अध्यक्ष दोनोंके भाषण सधे हुए थे। उनमें अवलोकन खुला हुआ था, निर्देशन बचा-बचा – यानी वे सशक्त न थे, पर स्वस्थ थे। उपस्थिति अच्छी थी। माननीय श्री श्रीप्रकाशजीने अधिवेशनका उद्घाटन किया था और अपने भाषणमें व्यापार-वाणिज्यके साथ नैतिकताके समन्वयकी सुन्दर बात कही थी। भाषणमें सरसता थी, स्पष्टता थी, शक्ति न थी, जो मानसको हिला देती है। श्रीप्रकाशजी महान् विचारक पिताके साधु पुत्र हैं। वे उन पवित्र पुरुषोंमें हैं, जो कभी-कभी ही राजनीतिमें दिखाई देते

है। आजकल जिन कलाओंमें मनुष्य पद पाते हैं, वे उनमें सर्वथा शून्य होकर भी आज जो केन्द्रीय मन्त्रि-मण्डलके सदस्य हैं, वह उनकी विश्व-मनोदशाका ही फल है। परिषद्ने उन्हें उद्घाटक चुनकर अपनी मानसिक स्वस्थताका भी प्रमाण-पत्र दिया, उसके लिए वह बधाईकी पात्र है।

वहीं दिखाई दिये मध्य भारतके उद्योग-वाणिज्य मन्त्री माननीय श्री श्यामलालजी पाण्डवीय। आकृतिमें सीधे, तो प्रकृतिमें सादे। बातचीत हुई तो जाना कि सरस भी, सहृदय भी। मैंने पत्रकारकी पैनी आँखोंमें उन्हें देखा – दूर-दूर भी कहीं राज्यके मन्त्री होनेका दर्प या दम्भ मुझे दिखाई न दिया। वे सबके बीचमें इस तरह थे, जैसे वे जो कुछ, जितना कुछ यहाँ हैं, उससे बाहर और कुछ नहीं। उनसे मिलना भले ही मुश्किल हो, पर मिलकर उन्हें पा लेना मुझे आसान लगा। सचाई यह है कि वे श्रेष्ठ मनुष्य हैं और उनसे मिलना मानवताके एक नम्र सेवकका उत्साह देता है।

ऋषभदास रांकाका नाम बहुत बार सुना था, पर सुननेमें जो बीज था, वह मिलनेमें वट-वृक्ष हो गया, जिसकी छायामें शीतलता और विश्राम दोनों मिलते हैं। जीवनमें सात्त्विकता, विचारोंमें स्पष्टता और कार्योंमें कर्मठता यह त्रिवेणी ही श्री रांका हैं। रांकाजीमें एक ऐसा बाँकपन है कि उनसे मिलकर मनुष्य अपनी यात्रा-बन्धनोंके शेयर्सका डिविडेण्ड तुरन्त पा जाता है।

एक और आदमीका मुझपर असर पड़ा। वे बोलते कम थे, देखते ज़्यादा थे। मैंने अनुभव किया कि व्यवस्थाके हर कोनेपर उनकी आँख थी। ये स्वागत-मन्त्री श्री नन्हेंदास थे। स्वागत-समितिकी व्यवस्था सुन्दर थी, सुसंगठित थी, पर यह कोई खास बात न थी; क्योंकि स्वागताध्यक्ष श्री राजेन्द्रकुमार 'डायरेक्शन' में ही नहीं, 'ऐक्शन' में भी पटु हैं। वे काम करना भी जानते हैं, काम कराना भी!

पहले दिनका अधिवेशन बहुत सफल रहा !

दूसरे दिन विषय-निर्वाचनीमें जो प्रश्न लोगोंको तंग कर रहा था वह यह कि कुछ लोग जैन धर्मको स्वतन्त्र धर्म मानते हुए भी जैन समाज और हिन्दू समाजकी एकताका समर्थन करना चाहते थे, पर कुछ लोगोंको इसमें यह भय था कि इस दशामें हिन्दू कोड बिल और हरिजन-मन्दिर-प्रवेश आदिके सुधारक कानून हमपर लागू होंगे। संक्षेपमें उनके भयका रूप यह था कि आगे चलकर जैनियोंका कोई अस्तित्व ही न रहेगा। श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीयने इस भयपर आक्रमण किया और लोग उनकी भाषण-कलाके प्रचण्ड प्रवाहमें बह गये, पर धीरे-धीरे भयने फिर सिर उठाया। श्री ऋषभदासजी रांकाके भाषणने दोनों समाजोंकी एकताके प्रश्नपर गजबका प्रकाश डाला। उन्होंने कहा था कि बम्बईके हरिजन-मन्दिर-प्रवेश कानूनसे जैनियोंके मुक्त होनेका फल यह हुआ है कि उधर जैनी एक बहिष्कृत जाति हो चली है, जिससे जैनियोंके लिए सम्मानपूर्वक रहना दूभर हो गया है।

इस भाषणका प्रभाव पड़ा और एकताका प्रस्ताव नये रूपमें बन सका। हरिजनोंके मन्दिर-प्रवेशपर जो प्रस्ताव बना वह स्पष्ट था, निर्देशात्मक था, क्रान्तिकारी था।

इधर ये प्रस्ताव पास हो रहे थे, उधर दिगम्बर मुनि श्रद्धेय श्री नेमि-सागरजीके तपोवनमें जैन समाजको इस 'महापाप' से बचानेकी तैयारियाँ हो रही थीं। दिन-भर वहाँ चर्चा रही, जोड़-तोड़ जमते रहे। शाम तक सूचना मिली कि वहाँ यह तय पाया है कि आज परिषद्का अधिवेशन न होने दिया जाये। परिषद्का अधिवेशन आरम्भ हुआ तो खचाखच उपस्थिति थी। मुझसे गोयलीयजीने कहा, आज झमेलेकी पूरी तैयारी है।" मैंने भी दो-चारसे बात की, इधर-उधर सूँघा, तो खतरा दिखाई दिया।

मैंने सभापति श्री साहू श्रेयान्सप्रसादजीसे कहा, "हरिजन-प्रस्ताव

जिन रूपमें है, उसपर आज भयकर झमेला होगा यह निश्चित है, इस-लिए हम प्रस्तावको आज या अभी न लायें तो कैसा है ?

साहू श्री श्रेयांसप्रसादजीने जो उत्तर दिया, वह हमारे राष्ट्रके सुधारकोंके लिए डायरीमें नहीं, कलेजेपर लिखने लायक है। अपनी शान्त मुद्रामें वे बोले, "प्रभाकरजी ! हम यह प्रस्ताव पास न करा सकें, तो फिर परिषद्के जीनेमें ही क्या लाभ है ?"

उत्तर सुनते ही मेरा मन आनन्दसे भर गया और साहूजीके सामने मेरा सिर झुक गया। लखनऊके परिषद्-अधिवेशनमें मैंने अनुभव किया था कि साहू शान्तिप्रसादजीके रोम-रोममें विशाल जैन संघका राष्ट्रीय स्वप्न छाया हुआ है और आज उनके बड़े भाईके मनमें छाया हुआ मैंने उसका स्वरूप देखा। मुझे लगा कि मैं इस समय कश्मीरकी किसी घाटीमें विचर रहा हूँ।

श्री परमेष्ठीदास जैनने प्रस्ताव पेश किया। प्रस्ताव पढ़कर उन्होंने जैन धर्मकी विशालतापर भाषण आरम्भ किया ही था कि आवाज आने लगीं और कुछ ही पलोंमें ये आवाजें एक सम्मिलित कोलाहलमें बदल गयीं। भाषण देना इस दशामें किसीके लिए भी असम्भव था। अब एक नवयुवक स्टेजपर आये और बोलने लगे। कोलाहल नाटकीय ढंगसे शान्त हो गया। उन्होंने अपने लच्छेदार और जोशीले भाषणमें प्रस्तावका विरोध किया और समाजकी इच्छा यह बतायी कि यह प्रस्ताव ठीक नहीं है।

लोग शान्त हो गये, पर फिर हल्ला मचा कि प्रस्ताव वापस लो, परमेष्ठीदासको निकाल दो और जाने क्या-क्या ! इसके बाद तो लोग खड़े हो गये और भाषण-वेदीके चारों ओर कुछ 'ट्रेण्ड' मनुष्य आ जुटे। अब कोलाहल अपशब्दोंके सागरमें डूब गया। कुछ ही क्षणमें ये अपशब्द उग्र हो गये और ये लोग वेदीके ऊपर चढ़ आये !

सबके चेहरोंपर भयंकर क्रोध था, सबकी मुद्राओंमें हिंसा थी, सबकी वाणी क्रूर थी और सबके हृदय ही नहीं, हाथ भी मसमसा रहे थे। मैंने

सोचा, जाने आज क्या होनेवाला है !

सभापतिने सलाह कर प्रस्तावको स्थगित कर दिया। अब एक नया रूप आया और गरमी बेहद बढ गयी। 'प्रस्तावको स्थगित नहीं वापस लो !' यह उन लोगोंका नारा था और वे अब और भी ऊपर चढ आये। साहू श्रेयान्सप्रसाद अब इन लोगोंसे घिरे हुए थे। एक गाय यदि सैकड़ों भेडियोंके झुण्डमें घिर जाये, तो आप जानते हैं, कैसा दृश्य होता है ? यदि हाँ, तो वहाँ वही दृश्य था ! सचमुच एक अद्भुत दृश्य था कि एक तरफ़ सैकडों खूंख्वार चेहरे और दूसरी तरफ एक शान्त आकृति !

मैंने अपने-आपसे कहा, "अक्लका कितना बडा बदहाजमा है कि ये खूंख्वार चेहरे भगवान् महावीरके धर्मकी रक्षाका दावा करते हैं और इस शान्त मनुष्यको उस धर्मका विरोधी बताते हैं। तभी मेरे मनमें एक भयंकर कल्पना जागी कि कौन कहता है गोडसे गान्धीको मारकर फाँसी चढ गया" — ये सब गोडसे ही तो हैं !

बहुतोंको मेरी कल्पना कडवी लगेगी, पर जहाँ हम अपना मत विचारसे नही, ताकतसे मनवानेकी कोशिश करते हैं, वही तो गोडसे होता है ! ये लोग थोडी देर प्रतीक्षा करके प्रस्तावके विरोधमें राय देते और उसे फेल कर देते, यह सीधा मार्ग था, पर इन्हें मतपर नहीं, ताक़त-पर भरोसा था और यही ये सब गोडसे थे !

मीटिङ् स्थगित कर दी गयी। यह अच्छा ही हुआ, नही तो जो कुछ होनेवाला था, वह सारे जैन समाजको चुल्लू-भर पानीमें डुबा देता ! मुझे सार्वजनिक जीवनमें काम करते वर्षों हो गये, पर मैंने ऐसा कुरूप दृश्य पहले कभी देखा था, यह मुझे याद नहीं पडता।

रातमें परिषद्के नेता मिले। मुझे खुशी हुई कि वे स्थिर थे, दृढ़ थे। दूसरे दिन दिनमें दो बजे परिषद्का अधिवेशन हुआ। आज लाला तनसुखरायकी व्यवस्था थी। हर बल्ली और रस्सेपर स्वयंसेवक था।

दिल्ली-यात्राकी स्मृतियाँ

"आपका देहली चलना निहायत जरूरी है पण्डितजी !"

देवबन्दके प्रतिष्ठित राष्ट्र-कर्मी मास्टर काशीरामजीका अनुरोध सुनते ही मैं दिल्ली चलनेको तैयार हो गया। वे देवबन्द तहसीलकी राजनैतिक कान्फ्रेन्सके लिए नेताओंको निमन्त्रण देने दिल्ली जा रहे थे। महात्माजीके शुभ-आगमन और असेम्बलीकी बैठकके कारण दिल्ली इस समय राष्ट्रका पवित्र तीर्थ हो रहा है, मैं इस तीर्थके अवगाहनसे क्यों वंचित रहूँ ?

यमुनाका पुल पार करते ही लाल किलेपर दृष्टि पड़ी। यह आज भी खड़ा-खड़ा चौराहेके सिपाहीकी तरह मुगल साम्राज्यके उस महान् वैभवकी ओर संकेत करता रहता है। कितना वैभवशाली था वह साम्राज्य और कितना शक्ति-सम्पन्न, पर विलासिता और जनताकी उपेक्षासे वह मिट्टीमें मिल गया और उसके उत्तराधिकारी, आज जाकर देखो इनसे निज़ामोंसे पूछो, टेंगे चला-चलाकर पेट पाल रहे हैं !

आगे बढ़कर स्टेशन आया। उतरे, बाहर आये। सामानके लिए एक कुली किया, पर तीन-चार कुली झगड़ पड़े। सभी अपना नम्बर बता रहे थे ! बात यहाँतक बढ़ी कि मध्यस्थ बनना पड़ा। मास्टरजीने कहा, "हमने यह कुली किया है, अगर इसका नम्बर नहीं है, तो तुम इसको गिरफ्तार कर देना, पर हमारा वक्त क्यों खराब कर रहे हो भाई ! कुली उतने भी झगड़ालू थे, यहाँतक कि हाथा-पाई करनेको तैयार हो गये।" मैंने इधर-उधर देखा, कोई सिपाही वहाँ नहीं था।

सामने साइनबोर्डपर नज़र गयी, जिसमें 'मुसाफिरोंके वास्ते' न जाने कैसा-कैसा लिखा था। अँगरेजी ठीक और उर्दू सही, पर हिन्दी ही एक अनाथ भाषा है, जिसपर होनेवाले अत्याचारोंका प्रतिवाद शायद निषिद्ध है।

ख़ैर, सामान लेकर आगे चले। थोड़ी दूर जाकर देखा, एक वृक्षकी आड़में सिपाही महाशय अपने एक मित्रके कन्धेपर हाथ रख गप-शप कर रहे हैं। कर्तव्यपालनका यह कितना सुन्दर उदाहरण था। मैंने कहा, "मास्टरजी, ऐसे पब्लिक सर्वेण्ट भारतके अलावा और किस देशमें मिल सकते हैं?"

दूसरे दिन विविध नेताओंके दर्शन किये। वेस्टर्न कोर्ट की सरकारी कोठियाँ आजकल 'कांग्रेस-हाउस' हो रही हैं। सेठ गोविन्ददासजीकी बाहर खड़ी मोटरपर तिरंगा झण्डा फहरा रहा था। २५ नं० कोठीमें पालीवालजीके दर्शन किये। वे बाहरसे जितने ऊबड़-खाबड़ हैं, भीतरसे उतने ही सुन्दर। जितने रूखे हैं, उतने ही सरस। एक शब्दमें युक्तप्रान्तका यह सपूत सिपाही है।

सभी लोग असेम्बली-हाउस जानेकी तैयारी कर रहे थे। सभापतिके चुनावकी व्यग्रता सभीके चेहरोंपर थी, पर श्री प० गोविन्दवल्लभजी पन्त इस समय भी बेफ़िक्रीसे बैठे हजामत बना रहे थे, जैसे उन्हें कोई फिक्र ही नहीं।

असेम्बली पहुँचे, नेता लोग धीरे-धीरे आ रहे थे। आज नयी दिल्ली-राजनगरके घर—में खादीकी बहार देखने लायक थी। कई तिरंगे झण्डे, जिन्हें झुकानेमें गत वर्षोंमें भगीरथ-प्रयत्न किया गया था, मोटरोंपर फहरा रहे थे। ऊपर असेम्बली-हॉलपर यूनियन जैक फहरा रहा था, जो सम्भवतः इन छोटे-छोटे झण्डोंको चुनौती दे रहा था. "इन सिपाहियोंकी मोटरोंपर चढ़कर क्या इतरा रहे हो? यहाँ आओ, तो मैं समझूँ।" इन

तिरंगे[illegible]

झण्डोंने इस चुनौतीका जो उत्तर दिया, वह लिखनेकी नहीं भावुकोंके अनुभव करनेकी चीज़ है।

सभापतिके चुनावमें कांग्रेस हार गयी। सभी कांग्रेसी खिन्न थे, पर पन्तजीकी मुख-मुद्रापर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं था। वे वास्तवमें एक राजनैतिक नेता हैं और राजनीतिको वे खिलाड़ीकी आँखसे देखते हैं। प० मोतीलालजी नेहरूकी यादमें मेरी पलकें भीज गयीं। आह, आज वह महारथी होता, तो क्या पराजयकी ये घड़ियाँ देखनी पड़तीं?

हिन्दुस्तानमें सम्राट्के उस प्रतिनिधिको भी देखनेका अवसर मिला। लॉर्ड विलिंगडन बूढ़े हैं, पर ज़रीदार लाल कोटमें खूब फब रहे थे। चेहरे पर बुढ़ापा था, पर शरीरमें जवानीकी चुस्ती। सुखमें कौन बूढ़ा हुआ है? मुझे ग्रामीण भारतीयके नाते उन्हें देखकर पुराने साँड़-अभिनेताओंकी याद हो आयी।

आजकल दिल्लीमें जापानी मालकी एक नुमाइश हो रही थी। हम लोग भी उसे देखने गये, कोई टिकिट नहीं था। विविध प्रकारका जापानी माल सजा हुआ था। चमक-दमक नम्बर एक और दाम सस्ता। चारों ओर विविध देशोंके झण्डे लटक रहे थे। उनमें एक झण्डा (जो सम्भवतः इटलीका था) भारतके झण्डेसे मिलता-जुलता था। मैंने वहाँके प्रदर्शक एक जापानीसे पूछा, ये झण्डे विविध देशोंके हैं या जापानके ही विविध सूबोंके?" हँसकर उसने कहा, "यस, देयर आर फ्लैग्स ऑव आल दोज कण्ट्रीज, विद विच वि हैव आवर ट्रेड, ऐक्सेप्ट दोज विच आर स्लेव कण्ट्रीज।" अर्थात् यहाँ उन सब देशोंके झण्डे हैं, जिनसे हमारा व्यापार है और जो गुलाम नहीं हैं।

इस जापानीकी हँसीमें कितनी भर्त्सना थी।

शरमसे मेरी आँखें नीचे झुक गयीं। भारतके मस्तकसे दासताका यह कलंक कब धुलेगा? हम कितने ही सजें, बनें और शृंगार करें, पर जब-

तक हमारे मुखसे दासताके कलंककी कालिमा नहीं धुलती, सब बेकार है और हमारा शृंगार हमारे उपहासका ही कारण है !

अँगरेजी सूट-बूटमें कोई भारतीय ईसाई कहीं अँगरेज हुआ है ? नुमाइशसे बाहर निकल 'अर्जुन' खरीदा। इस नुमाइशके समर्थनमें एक सम्पादकीय नोट था ! वाह रे, भगवान् व्यासके उत्तराधिकारियो !

'हिन्दुस्तान टाइम्स' का दफ्तर भी देखा। भाई देवदासजी गान्धीसे थोड़ी-सी बातें हुईं। उनकी सौम्य मूर्ति सदा याद रखनेकी चीज है। इस दफ्तरमें जहाँ हम-जैसे हजारों छुटभैये दिन-भरमें झाँक जाते हैं, कोई किसीकी बात पूछनेवाला नहीं था। शहरीपनके वातावरणमें यह शिकायत-की बात भी नहीं, पर दो सम्पादकोंके बीचमें रखी हुई बिजलीकी अंगीठी और कर्मचारियोंके सूट-बूट देखकर हमारे मास्टरजी बहुत भड़के, "हमारे नेता अगर अपने अधीन कर्मचारियोंमें ही सादा खादीका प्रचार नहीं कर सकते, तो उन्हें अपने पत्रके पाठकोंसे ऐसी आशा करनेका क्या अधिकार है ?" उनकी बातमें जो मार्मिकता थी, उससे इनकार नहीं किया जा सकता। फिर भी मैंने कहा, "नेता लोग आलोचनासे परे होते हैं, मास्टरजी !"

एक मित्रकी कृपासे सेक्रेटरियट देखनेको मिला। लिफ्टपर पहली बार मैं यहीं चढ़ा। यह एक विशाल भवन है और इसकी छतपरसे नयी दिल्लीकी एक बहुत सुन्दर झाँकी दिखाई देती है। एक ओर असेम्बलीका वह विशाल गोल भवन और दूसरी ओर गुम्बददार वायसरायका निवास-स्थान—गवर्नमेण्ट हाउस। चारों ओर फैले हुए वे सरकारी क्वार्टर और कनॉट प्लेसका वह शानदार बाजार, जहाँ पाँच आनेका माल हमारे राजा-रईस एक रुपयेमें खरीद कर कृतार्थ होते हैं।

कल्पनाकी आँखोंसे मैंने देखा—दूर खड़ा वह लाल किला उदासीन भावसे इस वैभवकी ओर देख रहा है। मेरे मनमें आया, किसी दिन लाल किला भी तो इसी उत्साहसे बनाया गया होगा।

मुगल साम्राज्य अपने इन सुदृढ़ और सुन्दर भवनोंके कारण आज भी

स्मरणीय है और अँगरेजी साम्राज्य अपने स्मृति-चिह्न निर्माण कर रहा है।

दिल्लीमें कितने ही साम्राज्य उगे, पनपे और विलीन हो गये। यह साम्राज्योंका प्रसूति-गृह भी है और श्मशान-मन्दिर भी! जीवन और मरण, आदि और अन्त एवं सृष्टि और प्रलयका दिल्लीमें कितना सुन्दर सम्मिलन हुआ है।

हम इतिहासको पढते है, पर उससे कुछ सीखते नहीं। यही कारण है कि वह बार-बार अपनेको दोहराता है। राजपूतोंका अध्याय समाप्त हुआ और मुगलोंका आरम्भ, मुगलोंका अध्याय समाप्त हुआ और अँगरेजोंका आरम्भ! आज यही चल रहा है, पर कौन जानता है कि यह कितना लम्बा है। इतिहासके सभी अध्याय अपने वर्त्तमानमें अखण्ड, अटल और सर्वांगपूर्ण दीखते है, पर समयका प्रभाव इस अभिमानको मिथ्या प्रमाणित कर देता है। वर्त्तमान कितना मोहक है कि हमें भविष्यकी ओर देखने ही नही देता।

लाल किला खडा आज रो रहा है। न वह शान और न वह वैभव। आज उसके फव्वारे, जो किसी दिन राजकुमारो और राजकुमारियोंको स्नान करा चुके हैं — सावन और भादो — सुनसान है। किसी दिन उनमें सैकडो मोमबत्तियोंका आलोक अठखेलियाँ कर चुका है आज वहाँ अँधेरा पडा है और उसमें न जाने कितनी प्रेम-कथाएँ सोयी पडी है। वे ताल और वे झरने, सभीकी सजीवता आज कहाँ है? आज वह लाल किला सरकसके पालतू हाथीकी तरह उदासीन भावसे खडा-खडा अपने अतीतको याद कर रहा है और उसे देखकर, उसके अतीतको याद करके, मुँहसे निकल पडता है:

"रुदन हास्य में खेल रहा था, चिरविषाद अलमस्ती में!
कहीं छिपा था यह विनाश भी, उस वैभव की बस्ती में!!"

सेक्रेटरियटके साइन-बोर्डोंकी भी हिन्दी अशुद्ध थी। शिमला देखकर

यह आशा हुई थी कि दिल्लीके ऊँचे आफिसोंके बोर्डोंकी हालत ठीक होगी, पर यहाँ भी निराश होना पड़ा। मैं समझता हूँ अब वह समय आ गया है, जब राष्ट्रभाषाके इस अपमानकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए।

मैंने अपने मित्रसे कहा, "हम-जैसे खद्दरधारियोंको अपने दफ्तरमें ले जाते तुम्हें डर नहीं लगता" वे हँस पड़े। उन्होंने दिखाया – वे खुद खादी पहन रहे थे और साथ ही वहाँ ऐसे कर्मचारियोंकी संख्या काफ़ी थी। मैंने अनुभव किया कि जो जितना बड़ा है, वह उतना ही उदार है। एक थानेदार, किसी परिचित कांग्रेसीको अपने आफिसके सामने देखकर ऐसा मुँह बनाता है कि जैसे हमने उसे पहले कभी देखा ही नहीं। जो जितना छोटा है, वह उतना ही दबा हुआ है।

दूसरे दिन शामको बिरलाभवनमें महात्माजीकी प्रार्थनामें शरीक होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। सितारपर प्रार्थना हुई। प्रसन्नताकी बात है कि महात्माजी लेनिनकी तरह कलासे नहीं डरते और संगीतसे उन्हें पथभ्रष्ट होनेका खतरा नहीं। महात्माजीके निकट बैठकर एक प्रकारकी विशेष पवित्रताका अनुभव होता है। ऐसा कौन है, जो बापूकी हँसी देखकर निहाल न हो जाये।

प्रार्थनामें एक अँगरेज सज्जन भी आये थे। उन्होंने श्रीमहादेव देसाई-से प्रार्थना की, कि वे उन्हें महात्माजीसे मिला दें। एक-डेढ़ मिनिट वे महात्माजीसे मिले। बाहर आनेपर उनकी बुढ़िया गृहिणीको भी ईर्ष्या हुई और उन्होंने अपने पतिको अकेले यह सुख लूटनेपर बहुत डाँटा। इस-पर वे फिर देसाईजीके पास पहुँचे। फलस्वरूप उन्हें भी महात्माजीसे हाथ मिलानेका मौका मिला। महात्माजीके सामने वे ऐसी खड़ी थीं जैसे बापूने उनको पन्द्रह साल कालेपानीकी सज़ा माफ कर दी हो!

माता कस्तूरी बाईके भी दर्शन हुए। इस बार वे बहुत बूढ़ी लगीं, पर उनके चेहरेपर जो ओज मैंने इस बार देखा, वह भी अपूर्व था। भोरा बहनका घुटा हुआ सिर दर्शकको चक्करमें डाल देता है। महात्माजीने

नया कर दिया है इस बेचारीको।

वास्तवमें महात्माजी प्राचीन भारतके ऋषियोंके नवीन संस्करण हैं और माता कस्तूरी बाई ऋषि-पत्नीका और इन दोनोंका समन्वय उसी पवित्र वातावरणकी पुष्टि करता है, जिसमें सिंह अपनी हिंसकताको त्याग कर दुम हिलाने लगता है। नवयुगके इन ऋषियोंको मेरा कोटि-कोटि प्रणाम

मित्रवर श्री हीरालालजीकी कृपासे पहाड़गंजकी पहाडियाँ देखनेका अवसर मिला। दिल्लीमें ऐसा सुन्दर प्रदेश घूमनेको मिलना मुझ-जैसे जंगली नागरिकके लिए एक खुदाई बरकत है। देखकर तबीयत खुश हो गयी, जैसे नया पकडा हुआ तोता सैय्यादकी भूलसे छूटकर अपने जंगली घोंसलेमें जा पहुँचा हो!

यहाँ मुगल साम्राज्यके समयकी एक चारदीवारी देखनेको मिली। पता चला कि यह भोली भटियारीकी सराय है। चारों ओर एक मजबूत दीवार है और उसीके अन्दर दो-तीन कोठरियाँ हैं, साथ ही एक कुआँ भी! सामने सुन्दर दरवाजा है।

मैं सोचने लगा, कौन थी यह भोली भटियारी। भटियारी और भोली! कौन जानता है उसके इस भोलेपनने ही उसके इस वैभवकी आधार-शिला रखी हो?

किसी दिन देख लिया होगा मुगल सम्राट्ने उसे और हो गये होंगे प्रसन्न। बस, दूसरे दिन भटियारीकी झोंपडियाँ इस पक्की सरायके रूपमें बदल गयी होंगी। भीतर कुएँ पर चारों ओर पक्का हाशिया है। कौन जानता है, इसपर प्रेमकी कितनी रंगरेलियाँ हो चुकी हैं? चाँदनी रात, एक जरीकी मसनद, मुगल सम्राट् और पास ही एक भोली भटियारी; सुराकी उपासना, आँखों-ही-आँखोंमें बात, कभी मीठी मुसकान और कभी अट्टहास। कितने सुन्दर दृश्य देख चुका है यह कूप। आह वे भारतके कैसे दिन थे! उनका ध्यान आते ही कसक-भरे हृदयसे निकल पड़ता है:

"दिल्ली, देखे हैं तूने, वैभव के कितने सपने!"

■

एक तसवीरके दो पहलू

मैं एक जंगली नागरिक हूँ। जंगली नागरिक कि रहता हूँ नगरमें, खाता-पीता और जीता हूँ नगरमें, पर जीनेका रस मुझे मिलता है जंगलोंमें, झरनोंमें, उपवनोंमें, झीलोंमें, पर्वतोंमें। जंगलमें बैठकर, प्रकृतिके साथ निखर, बातें करना, हँसना, खेलना मेरे जीवनका एक खास शौक है।

मेरे मित्रोंमें और परिवारमें ऐसे भी लोग हैं, जो मुझे मेरे इस स्वभावके कारण घुमक्कड़ कहते हैं और ऐसे भी, जो बातचीतमें घुमक्कड़ शब्द पसन्द नहीं करते और सीधे-सादे मुझे आवारा कहते हैं। उन दोनोंकी तर्क-शैली संक्षेपमें यह है: "अरे भाई, बैठना-उठना चार साथी मित्रोंमें, यह क्या कि जंगलमें इकले जा पड़े!" उन्हें समझानेको कभी मैं कहता हूँ कि भई, जंगलमें जाकर भी जो अपनेको इकला महसूस करे, उससे अधिक अभागा कौन होगा, तो वे इस तरह हँसते हैं कि मैंने जैसे कोई एकदम पागलपनकी बात कह दी हो।

तो जंगलोंमें घूमना और यूँ कहूँ कि नित-नये जंगलोंमें घूमना मेरा स्वभाव है। उस दिन घूमने निकला, तो जा निकला बन्दरोंके बागमें। यहाँ सैकड़ों बन्दर रहते हैं। वे क्या खाकर जी-पनप रहे हैं, मैं नहीं जानता, पर हाँ, मंगलके दिन नगरके दो-चार पुराने विचारोंके सज्जन यहाँ आते और इन्हें हनुमान्‌का रूप समझ, चने और गुड़ अवश्य खिला जाते हैं। पता नहीं उन्हें उससे लोक-परलोकमें क्या फल मिलता होगा, पर यह जरूर है कि यहाँका वानर-दल न तो मनुष्योंसे द्वेष ही रखता है और न भय ही खाता है। पालतू पशुकी तरह प्रेमके मधुर पाशमें बँधकर हिल-सा गया है।

मैं एक वृक्षकी छायामें बैठ गया और संस्कृतका मधुर प्रेमाभिनय 'मालती-माधव' पढ़ने लगा। अद्भुत रचना है। मालतीकी आतुरता, माधवका उत्कट अनुराग, मकरन्दकी प्रेमपूर्ण चातुरी और मदयन्तिकाकी लाज-भरी प्रेम-मुद्राएँ पाठकको कोलाहलपूर्ण विश्वसे उठाकर प्रेमके उल्लासमय विश्वमें पहुँचा देती हैं। पढ़ते-पढ़ते मैं झूम-झूम उठा, खो-खो गया और एक ही प्रकरणको बार-बार पढ़ने लगा। देह शिथिल हो गयी। आँखोंमें नशा-सा छा गया। यह दुनिया ही निराली है।

नशा जरा ढीला पड़ा, तो मेरा ध्यान वानर-दलकी ओर चला गया। वे अपने ही रागमें मस्त थे। एक वृक्षके नीचे कुछ वानर-शिशु आपसमें खेल रहे थे। एक बच्चा दूसरेकी पीठपर चढ़ने लगा, तो तीसरेने उसकी पूँछ पकड़कर खींच ली। जिसकी पूँछ खींची गयी थी, उसने उलटकर खींचनेवालेका कान काट लिया।

एक बच्चा पासके छोटे-से वृक्षसे नीचे उतरा और उसने इन खेलते बच्चोंमें-से एकका मुँह चूम लिया। उस छोटे शिशुने भी उसका मुँह चूमना चाहा, पर अपनी लघुताके कारण वह असफल रहा। दो तीन बच्चोंने यह बात भाँप ली और उस बड़े बच्चेको बलपूर्वक पकड़, धरतीपर लिटा दिया। छोटे शिशुने यह देखा, तो उसने लौटकर तड़ातड़ उसे चार बार चूमा और पेटपर एक मीठी कटोती भी काटी। अब वह फुदककर नीचेसे उठा और उनमें-से एकको गुदगुदाकर फिर पेड़पर चढ़ गया। प्यारमें हार भी जीत है, जीत भी हार है। चारों ओर शैशवका साम्राज्य-सा छा गया — चारों ओर सरसता बरस-बरस गयी।

एक दूसरे वृक्षके नीचे एक वानर माता अपने दो शिशुओंको सुलानेका प्रयत्न कर रही थी। हाँ, उसीके होंगे दोनों, पर वे अपनी बालसुलभ चंचलताके कारण इधर-उधर उछल-कूद मचानेकी चेष्टामें थे। माँ जब-

तक एकको चुमकारकर मुस्कानेका प्रदर्शन करती, तबतक दूसरा उठ दौड़ता और जब वह दूसरेको ओर दौड़ती तो पहला अपनी बाल-क्रीड़ा आरम्भ कर देता। जैसे-तैसे जबतक वह एकको हाथोंमें दबोच पाती, तबतक दूसरा उसकी कमरपर चढ़, उसे धराशायी करनेके विफल, पर अत्यन्त अध्यवसायपूर्ण प्रयत्नमें जुट पड़ता। माँ अत्यन्त व्यस्त थी और यों भी कि परेशान थी, पर उसके मुखमण्डलपर झुँझलाहटका कोई चिह्न न था।

एक छीतरे पेड़की शीतल छायामें एक वानर-दम्पति पृथक् हो अपने प्रेमका वितान तन रहे थे। वानरी पैर फैलाये बैठी थी और वानर उसकी एक जंघापर अपना मस्तक रखे, मीठी नींद ले रहा था। उसका एक हाथ वानरीके सम्पूर्ण कटि भागको अपनेमें लपेटे था, मानो किसी ऋषिका मूर्तिमान् आशीर्वाद किसी विपद्ग्रस्त अबलाकी रक्षा कर रहा हो। वानरीका दक्षिण हस्त किसी देवबालाके वरदहस्तकी भाँति वानरके ललाट-प्रदेशपर विलसित हो रहा था। वानरके मुख-मण्डलपर सात्त्विक शान्तिकी सरल आभा सुप्त सौन्दर्यकी प्रकाशमालाके साथ छिटक रही थी और वानरीकी चमकीली एवं मादक आँखोंमें प्रोद्भासित हो रहा था प्रेमका पुण्य प्रतिबिम्ब, मानो प्रशस्त प्रकाशपूरित चन्द्रकी विमल ज्योत्स्ना-द्वारा प्रक्षालित फूलके दो सुन्दर कटोरोंमें निर्मल ओस-बिन्दु प्रोल्लसित हो रहे हों।

पुनीत दाम्पत्य महामायाकी कल्याणमयी विभूति है। पारस्परिक प्रेमसे यह अनुप्राणित होता है और विश्वासके बलसे पाता है यह सम्बल। आत्मनिवेदनका यह सजीव चित्र है और प्रकृति-पुरुषके सम्मिलनका पुण्य प्रतिबिम्ब।

चारों ओर प्रेमका यही साम्राज्य छाया हुआ था। पशु-उपाधिवाले

मैं एक वृक्षकी छायामें बैठ गया और संस्कृतका मधुर प्रेमाभिनय 'मालती-माधव' पढ़ने लगा। अद्भुत रचना है। मालतीकी आतुरता, माधवका उत्कट अनुराग, मकरन्दकी प्रेमपूर्ण चातुरी और मदयन्तिकाकी लाज-भरी प्रेम-मुद्राएँ पाठकको कोलाहलपूर्ण विश्वसे उठाकर प्रेमके उल्लासमय विश्वमें पहुँचा देती हैं। पढ़ते-पढ़ते मैं झूम-झूम उठा, खो-खो गया और एक ही प्रकरणको बार-बार पढ़ने लगा। देह शिथिल हो गयी। आँखोंमें नशा-सा छा गया। यह दुनिया ही निराली है।

नशा जरा ढीला पड़ा, तो मेरा ध्यान वानर-दलकी ओर चला गया। वे अपने ही रागमें मस्त थे। एक वृक्षके नीचे कुछ वानर-शिशु आपसमें खेल रहे थे। एक बच्चा दूसरेकी पीठपर चढ़ने लगा, तो दूसरेने उसकी पूँछ पकड़कर खींच ली। जिसकी पूँछ खींची गयी थी, उसने उलटकर खींचनेवालेका कान काट लिया।

एक बच्चा पासके छोटे-से वृक्षसे नीचे उतरा और उसने इन खेलते बच्चोंमेंसे एकका मुँह चूम लिया। उस छोटे शिशुने भी उसका मुँह चूमना चाहा, पर अपनी लघुताके कारण वह असफल रहा। दो-तीन बच्चोंने यह बात भाँप ली और उस बड़े बच्चेको बलपूर्वक पकड़, धरतीपर लिटा दिया। छोटे शिशुने यह देखा, तो उसने लोटकर तड़ातड़ उसे चार बार चूमा और पेटपर एक मीठी कटोती भी काटी। अब वह फुदककर नीचेसे उठा और उनमेंसे एकको गुदगुदाकर फिर पेड़पर चढ़ गया। प्यारमें हार भी जीत है, जीत भी हार है। चारों ओर शैशवका साम्राज्य-सा छा गया — चारों ओर सरसता बरस-बरस गयी।

एक दूसरे वृक्षके नीचे एक वानर माता अपने दो शिशुओंको सुलानेका प्रयत्न कर रही थी। हाँ, उसीके होंगे दोनों, पर वे अपनी बालसुलभ चंचलताके कारण इधर-उधर उछल-कूद मचानेकी चेष्टामें थे। माँ जब-

देखा एक वानर-शिशु, जिसके सूखे मुखपर भूखकी दीनता बरस रही थी, दूध पीनेकी इच्छासे अपनी माताकी गोदकी ओर बढ़ा, पर समीप आते ही माताने उसे नोचना प्रारम्भ कर दिया और फिर तो उसका मस्तक अपने दोनों हाथोंमें दबाकर इस तरह चबाया कि खून बह निकला, बच्चा चिल्लाया, तड़पा, पर माँके हृदयपर उसका कुछ भी प्रभाव न हुआ।

मातृत्वके साथ पैशाचिकताका ऐसा मर्मवेधक संयोग देखनेका मुझे कभी अवसर न मिला था। मेरी अन्तरात्मा काँप उठी। मैं इससे अधिक देखनेका साहस न कर सका।

यदि सागर ही शुष्क हो जाये, उसमें ही धूल उड़ने लगे, तो अन्यत्र जलप्राप्तिकी आशा कौन मूर्ख करेगा? मातृत्वमें भी यदि निर्दयता निवास करने लगे, तो जीवनमें किसी अन्य स्रोत-स्नेह या सरसता-वल्लरीके कुसुमित होनेकी सम्भावना कौन सहृदय करेगा?

गाड़ीवानको प्रस्थानका संकेत कर मैं चल पड़ा। दूर तक वानरोंके चीख-चीखका भीषण निनाद मुझे सुनाई देता रहा।

यह दृश्य मेरे पूर्व परिलक्षित दृश्यके बिलकुल प्रतिकूल था, पर फिर ये दोनों एक ही तस्वीरके दो पहलू थे।

मैं सोचने लगा, जो प्राणी उपवनमें प्रेमकी पुनीत प्रतिमा, मातृत्वकी सुन्दर निधि और स्नेहका सागर है, वही झाड़ोंमें बैठकर दानवताका अवतार, जीवका स्वार्थमयी एक हृदय-हीनताकी मूर्ति कैसे हो गया?

हृदयमें एक हूक उठी, स्वार्थान्ध और दारिद्र्यान्ध यही तो करता है!!

■

इस वानर जीवनसे मैं बहुत प्रभावित हुआ। सोचने लगा, इनमें परस्पर कितना प्रेम है। इनका जीवन कितना सरल है। न ईर्ष्या, न द्वेष, न दूसरोंको गिराकर स्वयं आगे बढ़नेकी पतित भावना। प्रकृति-पुनीत-गोदमें ये अलग ही अपनी दुनिया बसाये बैठे हैं। मैं कविके कल्पित प्रेमजगत्से कपियोंकी इस प्रत्यक्ष दुनियाका तुलनात्मक विवेचन करता हुआ अपने घरकी ओर चल पड़ा।

मैं पहले भी कई बार यहाँ आया था, पर आजके इस निरीक्षणसे वानर-दलके प्रति मेरे हृदयमें एक प्रकारकी आत्मीयता हो आयी। फलतः आज यहाँसे चलते समय मैंने हृदयमें एक मीठी कसक-सी अनुभव किया।

निजत्व क्या है? इसका उद्गम कहाँ है? इसमें इतना आकर्षण क्यों है? जीवनके अन्वेषणीय रहस्यसे अनुप्राणित इन प्रश्नोंका समाधान दो हृदयोंकी अनुकूलता एवं विराट्के साथ सूक्ष्मकी एकत्र आकांक्षामें सन्निहित है, पर इसे हृदयकी मूक भाषा समझनेवालोंके अतिरिक्त कौन अनुभव करेगा?

मैं अपनी विचार-वाटिकामें एकाकी विहार करता हुआ धीरे-धीरे घरकी ओर आ रहा था। अचानक वहीं पास ही वानर-दलकी क्रोध भरी-खों-खोंने मुझे अपनी ओर आकर्षित किया। आँखें ऊपर उठा मैंने दृश्य देखा, उसने मुझे स्तब्ध कर दिया, मैं अवाक् रह गया।

एक जालीदार गाड़ीमें पचास-साठ वानर बन्द थे। सभीके मुख-मण्डल-पर क्रोधकी कठोरता ताण्डव कर रही थी। एक-दूसरेको फाड़ खानेको तैयार था, सभी घायल थे, सभी क्षुब्ध!

गाड़ीवानने बताया, "ये सुन्दरपुरसे पकड़कर हरद्वारके जंगलोंमें भेजे जा रहे हैं।"

मेरे कहनेपर गाड़ीवानने गाड़ी ठहरा दी। मैं और भी पास आ उन्हें गौरसे देखने लगा।